

प्रसाद का नाट्य-चिंतन

हिमाद्रि, तुंग शृंग से ग्रन्थ-शुद्ध भारती,
स्वयं यमा समुज्ज्वला स्वतंत्रता पुकारती।
अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़-प्रतिज्ञ सोचलो,
प्रशस्त पुण्य पथ है—वढ़े, चलो, वढ़े चलो।।।

—प्रसाद

—शिखरचंद जैन,
साहित्यरत्न

MAHARANA BHUPAL
COLLEGE,
UDAIPUR.

Class No.....

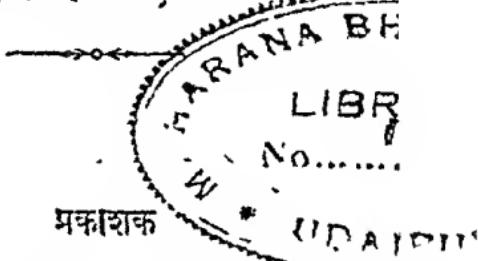
Book No.....

प्रसाद का नाट्य-चिंतन।

(हिंदी काटूफ-चिंतन-हितीय-भाग)

लेखक

शिवरचन्द जैन, साहित्यरूप



प्रकाशक

नरेन्द्र साहित्य कुटीर ५७, दीतबारिया, इन्दौर

संयुक्तप्रांत के सोल एजेन्ट

साहित्य रत्न-भण्डार,

(५३ ए सिविल लाइन्स) आगरा

अजातशत्रु की भूमिका में 'प्रसाद'—

इतिहास में घटनाओं की प्राय- पुनरावृत्ति होते देखी जाती है। उसका तात्पर्य यह नहीं है कि उसमें कोई नई घटना होती ही नहीं। किंतु अमाधारण नई घटना भी भविष्यत् में फिर होने की आशा रखती है। मानव-ममाज की वित्पना वा भण्टार अक्षय है, क्योंकि वह इच्छान्वक्ति का विकास है। इन कल्पनाओं का, इच्छाओं का मूलभूत बहुत ही गूँहम और अपरिस्फुट होता है। जब वह इच्छा वक्ति किसी व्यक्ति या जाति में केन्द्रीभूत होकर अपना सफल या विकसित रूप धारण करती है, तभी इतिहास की सृष्टि होती है। विश्व में जब तक कल्पना इयत्ता को नहीं प्राप्त होती, तब तक वह रूप परिवर्तन करती हुई पुनरावृत्ति करती जाती है। समाज की अभिलापा अनन्त स्वोत्तवाली है। पूर्व कल्पना के पूर्ण होते होते एक नई कल्पना उसका विरोध करेन लगती है, और पूर्व कल्पना कुछ काल तक ठहरकर, फिर होने के लिये अपना क्षेत्र प्रस्तुत करती है। इधर इतिहास का नवीन अध्याय खुलने लगता है। मानव-ममाज के इनिहात का इसी प्रकार सकलन होता है।

‘प्रसाद’ का वाट्यकर्त्तव्य

दार्शनिक कवि, मार्मिक इतिहासज्ञ एवं सर्वतोमुखी प्रतिभा के कलाकार ‘प्रसाद’ की नाट्यकला पर विवेचन करने के पहिले उस कला में प्राप्त होनेवाली मूल-प्रवृत्तियों के उद्गमों, विकासों ‘प्रसाद’ का एवं परिस्थितियों पर विचार करना आवश्यक है क्योंकि महत्व उसमें काव्य-कला के सब अङ्गों की विशिष्ट प्रमाण में पुष्टि हुई है। ‘प्रसाद’ उन हने गिने कलाकारोंमें से हैं जिन पर भारत गौरव कर सकता है, जिन्हें महाकवि टैगोर के समकक्ष आंका लाता है और जो एक हिंदी-भाषा के उन उच्चायोंमें से हैं जो भविष्य में विश्व के अमर साहित्यियोंमें अपना समानपूर्ण स्थान ग्रहण करेंगे। गत् ३० वर्षों का हिंदी-साहित्य ‘प्रसाद’ और ‘प्रेमचंद’ का है, यद्यपि अन्य साहित्य-सेवियों को भी यथोचित स्थान दिया जा सकता है। जितनी ध्यापक हिंदी माता की ये विभूतिएँ हुई हैं उतनी अन्य नहीं।

‘साहित्य को, कलाकार को थपने युग से आगे चलना चाहिये।’ इसमें सत्यार्थ है किंतु महान् लेखकों, कलाकारों और युग-प्रवर्तकों के अध्ययन के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वे ‘प्रसाद’ पर युग निर्माण अवश्य करते अथवा कर सकते हैं, युग के युग-प्रभाव आगे चलनेवाले एवं पथ-प्रदर्शक भी होते हैं किंतु उस युग की परिस्थितियों, विचार-धाराओं का उन पर पर्याप्त प्रभाव भी पड़ता है। उनसे वे ग्रहण करते, उन्हें प्रकट करते और ध्यापक नहीं हैं। यह जल्दी जल्दी जल्दी जल्दी और महत्व प्रदर्शित होता है। विचार

धाराएँ युग के वातावरण में कण-कण होकर समाई रहती हैं। परिस्थितिएँ इन कणों को पैदा करती हैं। विचारों के ये कण व्यक्ति व्यक्ति के उद्गारों, अनुभवों, अभावों के प्रकटीकरणों, अनुभूतियों को गठिन करते रहते हैं जिनका आधार समाज, यही मानव और इनका अन्तर और बाय्य-वातावरण रहता है। ये विचार-कण समाज के परितापों, संकूपों, वेदनाओं, अभावों, वन्धनों आदि की गर्मी से तापित होकर विशाल-मानव सागर से धाराधरों के रूप में परिवर्तित होते जाने हैं और फिर कलाकारों की उच्च प्रतिभा-शृंगों से संधर्षित हो विचारधाराओं के रूप में वरस पड़ते हैं। तब हम उन्हें एक नवीन रूप ये देख कर तृप्त होते हैं। इस प्रकार प्रतिभा असीमित, परोक्ष, निराकार, अनन्त से एक स्वाभाविक प्रक्रिया द्वारा एक सीमित, प्रथम, साकार, सांत को जन्म देती है। एक नव रचना, कृतिका जन्म होता है। वह मानव कल्याण भी करती है। करती रहती है। धाराधर केवल एक बार तृप्ति देने हैं किंतु विचार धाराएँ बार-बार और एक लम्बे युग तक तृप्ति करती रहती हैं।

‘प्रसाद’ की स्वतंत्र प्रतिभा ने भी १९२० ई. महाकांति, महाविष्व द्वारा बहुत कुछ ग्रहण किया है। यहाँ सुझे समझने में आप गलती न करें और यह न समझलें कि इस कारण में ‘प्रसाद’ को दोषी समझता हूँ। युग का प्रभाव नो अवश्य पड़ता होता है। इसारों वर्षों के बाद जो महान् आत्मा, जो अवतार, जो मोहन पैदा हुआ है उसका प्रभाव व्यापक न पड़े, यह हो नहीं सकता। इसीलिये ‘प्रसाद’ की उच्चोटि की प्रतिभा ने जो ग्रहण किया, जिस चलिक, तत्कालीन बार-बार मरनेवाले को ग्रहण किया उसे अपनी रचनाओं में स्थायी, सर्वकालीन और अमर बना दिया है। ‘प्रसाद’ और ‘प्रेमचन्द’ ने इसी महान्-युग का उच्चनम प्रतिनिधित्व किया है जो न केवल आज के इतिहास में किंतु विश्व के इतिहास में अमर रहेगा। विश्व के एक चौथाई भाग की आकांक्षाओं,

सावनाथों को अंकित कर भी क्या कोई यह कह सकता है कि यह युग, यह विभूति और ये कलाकार विश्ववर्द्ध न हो सकेंगे ।

'प्रेमचंद' ने इस युग-साहित्य के शरीर को गठित किया, सुदृढ़ बनाया, उसमें प्राण-प्रतिष्ठा की । 'प्रसाद' ने आत्मा की ओर ध्यान दिया । 'प्रेमचंद' ने ताजे और समूचे फलों का प्रयोग किया और 'प्रसाद' ने केवल रसका और हम देखें 'प्रसाद' में कैसे उज्ज्वलतम रूप में हमें इस महान्-युग की प्रतिक्रिया, सुन्दरतम निर्दर्शन मिलता है ।

इस महान्-युग के प्रथम सन् २७ के बाद, राष्ट्रीय आंदोलन तो हुये । जाग्रति भी हुई । उसके पूर्व के राष्ट्रीय प्रथल-प्रथलों को इतिहास भुला नहीं सकता । फिर विस्तृत भारत के कोने-कोने में जो संदेश, जो आत्मिक वज्ञ-सौरभ फैला वह अलौकिक, अप्रतिम हुआ है । इसके पहिले वह युग था जिसमें अङ्गरेजों के न्याय में, महाराजी विक्टोरिया की घोपणा में, उनके संरक्षण में, उनके साहित्य और शिक्षण में शद्दा और विधास था । उदासीनता कम थी । अंग्रेजी शिक्षा और साहित्य के प्रति प्रेम अधिकाधिक बढ़ रहा था । इस आंदोलन ने सहसा इन भारत-विरोधी-प्रातियों को ज्ञान भरके लिये रोक दिया । ज्ञान भर भारत को सोचने के लिये ठहरा दिया । आतंरिक जो अनुभव वह कर रहा था और जिसे आत्म-प्रकटीकरण नहीं मिल रहा था अब वही चहिर्गत् होकर प्रकट और स्पष्ट हुआ । अन्तर को बोलने का मार्ग मिला । सबसे पहिले भारत को यह भान हुआ कि उसकी आत्मा में भी बल है । अंग्रेजों की शक्ति का प्रभुत्व, आतंक जो सन् सत्त्वावन में फैला था और जो शब तक बढ़ता ही आया था वह कपुर के समान उड़ गया । असहयोग-आंदोलन की गर्मी को सह न सका । साहित्य पर भी इसका काफी प्रभाव पड़ा है । सबसे पहिली बार पाश्चात्य सभ्यता, संस्कृति, शिक्षा से हमें विवृति हुई । इसके पहिले के साहित्य में कोई चात ऐसी नहीं पाई

जाती जो इनका प्रवक्त विरोध करनेवाली रही हो । यह यात नहीं थी कि इसका अनुभव नहीं हुआ हो । वह तो भारतेन्दुवावृ से प्रारम्भ हो गया था और उसका तत्कालीन प्रभाव भी उनमें लक्षित होता है किन्तु उसके बाद तो हमने अपने को हेय और यूरप को श्रेष्ठ समझना प्रारम्भ व्यापक और सामुहिक रूप से कर दिया था और इसी भावना पर आधारत इस आनंदोलन ने किया । इसे अपना और अपनी आत्मा का ज्ञान हुआ । मेरा तो यह ख्याल है चूँकि एक कलाकार, लेखक या साहित्यिक 'अपने युग की भी जिन्दगी विताता है', योई लेखक इस युग की भावना से अद्वृता नहीं रहा । १९२० से १९३२-३३ तक इसका प्रचुर प्रभाव रहा और इसके बाद इस प्रभाव पर बुद्ध अन्य प्रभावों ने और विचार धाराओं ने प्रभाव ढाकना प्रारम्भ कर दिया किंतु ये उसके पुत्र या पुत्री ही हैं । उसी युग माता से निस्सृत हुये हैं । अतएव 'प्रसाद' से प्रभावशाली, स्वतंत्र प्रतिभा के उपासक, वाल्य आनंदोलनों और वातावरण से विलग रहनेवाले 'प्रसाद' में भी इसका प्रभाव लक्षित हो, काफी प्रमाण में तो हमें आश्चर्य करने की या 'प्रसाद' की प्रतिभा में कभी समझने की आवश्यकता नहीं । वास्तव में इतिहास-अध्ययन, स्वतंत्र प्रतिभा, कवित्व के साथ युग-प्रभाव जो कि अनिवार्य है 'प्रसाद' में हमें मिलता है । 'सज्जन', 'प्रायरिचत', 'विशाख', 'राज्य-श्री', और 'जनमेजय का नाग यज्ञ' में इस युग का स्पष्ट प्रभाव दिखाई नहीं देता और ये इस युग के पूर्व की रचनाएँ मालूम होती हैं । 'कामना' में उसका कवित्व इसी युग के प्रभाव को लक्षित करता है एवं अवलम्ब लिये हुये हैं । साथ ही 'कामना' 'भारत-दुर्दशा' और 'भारत-वननी' का विकसित रूप भी है जो 'श्रोध-चन्द्रोदय' की रचना प्रणालीवाली रचनाओं में प्राप्त होता है । 'अजातशत्रु' 'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' इस युग से स्पष्ट प्रभावित हुए हैं किंतु प्राचीन, भारत के गौरवमय इतिहास के अध्ययन के फल-

स्वरूप 'प्रसाद' इनमें कहीं इस युग से अधिक आगे; बहुत आगे निकल गये हैं। आज देश अथवा काँग्रेस की भी वही हालत है जो 'स्कन्दगुप्त' और 'चंद्रगुप्त' में वर्णित संघर्षों के समय हुई है। इम हिन्दूमें कई आधुनिक चरित्रों की उद्भावना भी कर सकते हैं। 'स्कन्दगुप्त' इस युग का स्पष्ट प्रभाव अंकित करता है। 'चंद्रगुप्त' परोक्ष, कुछ स्थायी और कुछ अस्थायी। लेखक में जो भाव रहता है वह किन्हीं राजनीतिक कारणों से अवश्य रहने के कारण साहित्य के रूप में अवश्य ही उद्गत होता है। 'कामना' में यही हुआ है।

इस युग से भाव पूर्व भावना ग्रहण कर उनमें निज कवित्व और कल्पना का रंग भर 'प्रसाद' ने 'कामना' की सृष्टि की है। यह भाव रूपक उनकी वाल कृतियों का विकसित पूर्व 'कामायनी' का 'कामना' बीज रूप है जिसमें 'कामायनी' का गम्भीर चित्तन, विशाल कल्पना, प्रारंतिहासिक काल का सूष्म चित्रांकण, मानव सृष्टि और राजसत्ता के विकास-क्रम का मूल रूप विद्यमान है। साथ ही 'प्रबोध-चंद्रोदय' की प्रणाली पूर्व 'भारत दुर्दशा' के विकास पर यह उनकी सुन्दर कल्पना है जिसमें अमूर्त, आंतरिक पूर्व मनोराज्य के भावों को प्रत्रय देकर उन्हें मूर्त, वाणी और लौकिक रूप दिया गया है। सूष्म को स्थूल किया गया है।

'कामना' केवल इस युग की ही प्रतिक्रिया नहीं है किंतु उसमें मानव के मूल पूर्व विकास का इतिहास, भोजे-भाजे भारत की विदंयना, स्वत्वापहरण का प्रदर्शन भी है। इस नन्हीं कृति में भारत, हंगलेंड और सृष्टि की प्रारम्भिक अवस्था का कवित्व और कल्पना पूर्ण परोक्ष चित्रण है। कथावस्तु यद्यपि स्पष्ट है किंतु एकही प्रकार का चित्रांकण विभिन्न भावों को प्रदर्शित करता है तथा विटेन और भारत जैसे विभिन्न शोपक और शोषित देशों पर धृति होता है। किंतु इसका केवल

साहित्यिक रूप ही हमें ग्रहण करना चाहिए वयोंकि कोई भी उच्च कलाकार युग से एक सूचम भावना ही ग्रहण करता है और अपनी कल्पना से उसे एक विस्तृत चित्र का रूप दे देता है। 'कामना' में भी यही हुआ है। इस युग से एक सरस भावना की उन्देंने कल्पना और कवित्व द्वारा सुन्दर और सरस चित्रपटी तैयार की है जिसमें मानव-मूल विकास-क्रम भी अप्रथम, सरस और बड़े ही उचित ढंग से आ गया है।

सृष्टि के प्रारम्भ में मानव बड़ा भोला-भाला, निरीह-मासूम, अवलुप्त प्रकृति-थनुगामी, हृदय-स्वरूप, समझोगी और साम्यवादी था। मानव मानव था। अपने असली रूप में था। तब न समाज था, न राज-सत्ता थी। न कोई बड़ा था न छोटा। सब समरस, सब सृष्टि के मूल रूप में थे। तब "जपा" के अपांग में, जैसे "बागरण की लाली" थी। "पृथ्वी के प्रांगण में प्रभात टहल रहा" था। पृथ्वी के इस दया-काल में वह "शान्ति का निरंतर सङ्गीत सुनाया करता" था। "कैसी प्रकृति से मिली हुई यह जाति थी।" महत्व और आकांक्षा का अभाव और संघर्ष का लेश भी नहीं था। किंतु नाटक की पात्रा 'कामना' चूँकि कामना ही थी। कामना थी इसलिये "हाइकार" अर्थात् असन्तोष शुरू हुआ। कामना की बुद्धि हुई। उसे अपने में अपूर्णता का भान हुआ, आकांक्षा ने उसे सहचरी बनाया और इसी समय उसे 'विलास' के दर्शन हुए। 'कामना' संहर्ष-पद देकर पूर्ण चशीभूत कर लेता है। 'विलास' नारी 'कामना' को स्वर्ण-पद देकर पूर्ण चशीभूत कर लेता है।

'विलास' का आधिपत्य हो जाने के पश्चात् स्वर्तंत्र और निर्भीक 'कामना' ढर से परिचित हो जाती है। "मूर्ख! अपने देश की दरिद्रता में चिताइत और अपने कुकमों से निर्वासित साहसी 'विलास' राजा बना चाहता है।" (क्या विलास में हम हाँहव की उद्भावना नहीं कर-

सकते ? उपर्युक्त विशेषता क्या हम उसके लिये प्रयुक्त नहीं कर सकते ?) आगे वही 'विलास' सोचता है (और 'विलास' का निम्न कथन क्या हम भारत पर घटित नहीं कर सकते ?) "जैसे शैल-निवासिनी सरिता, पथ के विषम ढोकों को, विघ्न-वाधाओं को भी अपने सम और सरल प्रवाह तथा तरल गति से ढकती हुई बहती रहती है, उसी प्रकार यह जाति जीवन की वक्र रेखाओं को सीधी करती हुई अस्तित्व का उपयोग हैं यती हुई कर लेती है ।" "ऐसी सीधी जाति पर भी यदि शासन न किया तो मनुष्य ही क्या ? इनमें प्रभाव फैला कर अपने नये और अधिकांश भवत्ता के प्रलोभनवाले विचारों का प्रचार करना होगा ।" (क्या विदेशी शासक-शक्ति यह नहीं करती ?) ऐसे ही समय उसकी महत्वाकांचारूपी छाया का उसे सहयोग प्राप्त हुआ । उसे चेतावनी मिली "स्मरण रख तुम्हे इस जाति को अपराधी बनाना होगा । जो जाति अपराध और पापों से पतित नहीं होती वह विदेशी तो क्या, किसी अपने सजातीय शासक की आज्ञाओं का बोझ भी अपने स्कंद्य-पर घहन नहीं करतो । और समझते कि विना स्वर्ण और मदिरा का प्रचार किये तू इस पवित्र और भोली जाति को पतित नहीं बना सकता ।"

बस 'विलास' ने धीरे-धीरे कामना पर ही अपना आधिपत्य नहीं जमाया किन्तु सारे द्वीप भर में स्वर्ण और मदिरा की आकांक्षा उत्पन्न कर दी । जो जाति अब तक बन-लक्ष्मी से सन्तुष्ट थी उसमें विलास का दौर-दौरा हो गया । 'लीला' के हृदय में भी उसी स्वर्ण-पट की कामना जाग्रत हो गई जोकि 'कामना' को पहिले से ही प्राप्त हो गया था । इसी स्वर्ण-पट के कारण 'विनोद', 'कामना' और 'विलास' का दास बनना स्वीकार कर लेता है । इधर सुस्वाद पेया मदिरा का बाजार गर्म हो जाता है । इस प्रकार मनुष्य अपने प्राकृतिक जीवन से बनावटी जीवन की ओर अग्रसर होता है । न केवल पुरुष किंतु स्त्रियों भी मदिरा पीकर

अपने को उन्मत्त बना देती हैं। जब स्वर्ण और मदिरा का प्राचुर्य हो जाता है तब 'विलास' 'विनोद' को प्रोत्साहन देने के लिये मृगया की ओर आकर्षित करता है। वह कहता है कि इन दुष्ट प्राणियों को यदि हम, हम पर आक्रमण करने के पहिले ही आक्रमण कर धराशायी बना देवें तो हमारा मनोरंजन भी होगा, व्यायाम भी होगा। हम वीर भी होंगे और हमारी रक्षा भी होगी। यस, अब भोली जाति मृगयारन हो निरीद प्राणियों के बध की ओर अप्रसर हो जाती है।

अब यही पवित्र और 'भोली जाति' को अब तक 'झीवन को खेल' समझती थी और केवल 'पक्षियों के संदेश में ही आनन्द-लाभ करती थी' पापों, अन्यायों और नियमों आदि की सृष्टि के द्वारा पाप-पुण्य, न्याय-अन्याय, नियमों को 'विलास' से सीखती है।

स्वर्ण की आकांक्षा और पेया की प्यास अब सारे होप में व्याप्त हो जाती है। केवल उपासना की रानी 'कामना' अब हमारे, संसार के अपने में 'विलास' के द्वारा रानी बनाई जाती है। मदिरा ने अब हस-जाति को इतना पतित बना दिया है कि जहाँ सब मिल कर नाचा करते थे अब वहाँ वे सब अभिवारी होने लगे हैं। पाश्चात्य सभ्यता पर, उनको संस्कृति पर 'प्रसाद' का लंक्य अब पहुँच जाता है। जब एशियाई तथा अन्य देशों से स्वर्ण राशि यूरोप को पहुँचने लगी तब उन देशों में कैसा उन्माद हो गया। उन्हें स्व-क्षी से सन्तोष न होने लगा। प्रत्येक अपने से इतर की पत्नी को श्री एं मस्म उसके साथ नाचने लगा। (पाश्चात्य नाचों में क्या यह नहीं होता ?).

'कामना' रानी तो हो जाती है, दीक उसी रूप में जिसमें राज-सत्ता की स्थिति और अस्तित्व को हम ज्ञान-तक पाते रहे हैं किंतु उसके हृदय की स्वाभाविक आकांक्षा पूरी नहीं होती। 'विलास' शायद उससे विलास करे उसके बेधन में फँसना नहीं चाहिता। क्योंकि वह तो 'विलास'

ही ठहरा । 'कामना' के हृदय की प्यास, नारी की स्वाभाविक प्यास थी; किसी पुरुष को आत्म-समर्पण कर उसकी हो रहना । किंतु उसकी यह प्यास पूरी नहीं हो पाती । वह उपासना-गृह की केवल दासी ही रह जाती है । 'विलास' का सम्पर्क करते हुए भी कुमारी और पवित्र । 'विलास' 'कामना' को धोखा देता है और उसका अतृप्त हृदय चारों और भटकता रहता है ।

इस सब का परिणाम क्या निकलता है ? शांति भंग होती है । शांति देव जिसके पास प्रत्युर स्वर्ण था और जो आज इसी कारण यह सोच नहीं पाता था कि उस स्वर्णराशि को कहाँ रखे दो मध्यप द्वीप-वासियों के हारा इसी स्वर्ण के लिये मारा जाता है । यब अपराध शुरू हो गये हैं । कारागारों की सृष्टि होने लगी है । शिकारी सैनिक और पहरेदार हो जाते हैं । परिणाम यह त्रिकलता है कि "देश के बच्चे चिताग्रस्त और हुर्वल दिखाई देते हैं । स्त्रियों के नेत्रों में विद्वलता सहित और भी कैसे-कैसे कृत्रिम भावों का समावेश हो गया है । व्यभिचार ने लज्जा का प्रचार कर दिया है । छिप फर बातें करना, कानों में मंत्रणा करना, छुरों की चमक से आँखों में त्रास उत्पन्न करना, बीरता नाम के किसी अनुत पदार्थ की ओर अन्धे होकर दौड़ना, युवकों का कर्तव्य हो रहा है । वे शिकार और जुआ, मदिरा और विलासता के दास होकर गर्व से छाती फुलाये घूमते हैं । कहते हैं, हम धीरे-धीरे सभ्य हो रहे हैं ।"

"सब बढ़े मूर्ख और पुरानी लकीर पीटनेवाले कहे जाते हैं ।".....
"हृदय में ध्याकुलता, मस्तिष्क में पाप-कामना भरी है ।"

"सोने का ढेर छुल और प्रवंचना से एकनित कर के थोड़े से ऐश्वर्य शान्ति मनुष्य द्वीप भर को दास बनाये हुए हैं ।"

परिस्थिति इतनी भयानक और पतित हो जाती है कि स्वयं विलास (जॉन बुज) को एक बार शनुताप होता है । वह सोचता है, "यह बड़ा

रमणीय देश है। भोले-भाले ग्राणी थे। इनमें जिन भावों का प्रचार हुआ उपयुक्त ही था। परन्तु सब कर के क्या किया? अपने शापग्रस्त और संघर्षपूर्ण देश की अत्याचार-ज्वाला से दग्ध होकर निवला। यहाँ शीतल छाया मिली, परन्तु मैंने किया क्या? सन्तोष उत्तर देना है “वही ज्वाला यहाँ भी फैला दी, यहाँ भी नवीन पापों की सुषिट हुई।”

‘विलास’ भुलावा देता है। कहता है “देखो अब से तुम एक राष्ट्र में परिणत हो रहे हो। राष्ट्र के शरीर की आत्मा राजसत्ता है उसका सदैव आज्ञापालन करना, सम्मान करना।”

‘विलास’ ‘कामना’ से जय गया। अब लालसा जाग्रत हुई। अब उसका ‘लालसा’ से सम्पर्क हुआ।

निम्न-लिखित थंश में उस दशा का चित्रण है जिसमें यूरोप के साहसी (जिनमें कतिपय सामुद्रिक दाकू भी थे) नाविकों ने आफ्रिका और अमेरिका आदि देशों की यात्राएँ कर अनेक कठिनाइएँ सहन की थीं।

“आज तक हृधर के लोग न जानें कब से यही जानते थे कि उस पार न जाना, उधर आज्ञात प्रदेश है। परंतु शांतिदेव ने साहस कर के उधर की यात्रा की थी, वह बहुतसे पशुओं, असभ्य मनुष्यों से बचते हुए वहाँ से यह सोना ले आये।” ये उद्धरण प्रसाद की कल्पना और पला के आधार हैं।

नवीन भूमि की खोज के पश्चात् नवीन-नवीन देशों पर आक्रमणों की वात सोची जाने लगी। स्वर्णकांची देशवासी परापहरण के लिये वीरता और उत्साह से भर गये। “नदी के उम पार की भूमि” पर आक्रमण और अधिकार करने के लिये इन भावों का प्रचार किया जाने लगा कि “यदि वीर हो तो चलो—वीर भोग्या तो वसुन्धरा होती ही

है। उस पर जो सबल पदाघात करता है उसे वह हृदय खोल कर सोना देती है।”

यही विचार-धारा है। यही भोपण लालसा है। इसी के कारण अपराधों की सृष्टि हो रही है। कठोर दण्डों का सृजन हो रहा है और “अपराध से अपराध परंपरा की सृष्टि।”

एक बार विवेक चेतावनी देता है, “लोहू के प्यासे भेड़ियो, तुम जब वर्बर थे, तब क्या इससे दुरे थे? तुम पहिले हसप्ते भी क्या विशेष असभ्य थे? आज शासन सभा का आयोजन कर के सभ्य कहलानेवाले पशुओं, कल का तुम्हारा धुँधला अतीत इससे उज्ज्वल था।” यहाँ प्रसाद की आत्मा उबल पड़ी है।

अब “निर्जन में प्रान्तों के गन्दे झोंपड़ों में, विना प्रमोद की रातों” और “संस्कृति-विहीन जीवन” से मन ऊब गया।

“इसीलिये तो नवीन नगर-निर्माण की आयोजना चली।” नगर बसने लगे। हीपवासियों को “बड़ा सुन्दर भविष्य” दिखाई देने लगा।

‘शांतिदेव’ की धनी स्त्री ‘लालसा’ के चित्रण में अघःपतन की पराकाष्ठा है जो आधुनिक सभ्यता की देन है।

धीरे-धीरे ग्रामीणों के खेतों की उर्वरता की ओर दृष्टि जाती है। कर वृद्धि की सूझती है। इसी प्रसंग पर पिता-पुत्र और माता के परिवार का एक चित्र और प्रसाद ने इसलिये खांचा है कि इस नवीन सभ्यता के प्रचार ने कौटुम्बिक जीवन पर भी कितना प्रवल्ल आघात किया है।

चास्तव में ‘कामना’ में सभ्यता के विकास के, पाश्चात्य सभ्यता के श्रीगणेश के, भारत सदृश देशों के शोषण और विटेन सदृश शोषक देशों के क्रमशः हास और वृद्धि के सम्बन्ध के विचार व्यक्त हुये हैं। ये विचार

और ये याते १६२० के पहिले भी थीं। किन्तु इसके पहिले जैसे ज्ञान बन्द थी। मस्तिष्क कुंठित था। कुछ अनुभव होता था किंतु पाइचार्य सभ्यता से हम हमें अभिभूत और चकित थे कि उनके संयन्ध में कुछ कह नहीं सकते थे किंतु १६२० के याद हमें अनुभव हुआ कि हम लोग जो सोचते थे, अनुभव करते थे, वह गलत नहीं था, ठीक था। दीन भाव चला गया था और उसके स्थान पर आम दृढ़ना और आरम्भल हम में था गया था। हसी भावना का सुन्दरतम दिग्दर्शन, 'कामना' में है। कामना की दो कविताएँ अश्लीलता की सीमा पर पहुँच गयी हैं। वेश्याओं के गाने योग्य या गाहैं सी हुई हैं। जैसा प्रसंग है और आधुनिक सभ्यता ने कला के नाम पर जैसे अपनी शंगारी नगन भावनाओं को प्रोत्साहन दिया है उसके अनुरूप वे अवश्य हैं।

याद में 'प्रसाद' की कतिपय पंक्तियों पूर्व विश्ववन्हुस्त्र के उत्तर तक के विकसित पूर्व प्रचलित विचारों के आधार पर विकास सुमित्रानंदन पंत का रूप में, पंत का 'ज्योरसना' नाटक निकला जिसे 'ज्योत्स्ना' .. हमें 'कामना' की ही श्रेणी में रख सकते हैं।

पंत की सूधम कल्पना पूर्व नाटकीय विचार-धारा में काव्यत्व का जो स्वरूप है उसकी पृष्ठ भूमि जो 'कामना' से उद्भूत हुई है वह ही प्रसाद की निम्न लिखित पंक्तियाँ "हम लोग बड़ी दूर से आये हैं। जब विजेतिज्ञ राशि स्थिर होने पर वह द्वीप ऊपर आया, उसी त्वर हम हम लोग शीतल तारकाशों की किरणों की दुरी के सहारे नीचे उत्तरे गये। हम द्वीप में अब तक तारा ही की संरान्न वसती है।" 'कामना'

"पिता की आज्ञा से, कभी छोटी, कभी बड़ी एक राह खुलती है, और किसी दिन विलकुल नहीं। उसे चन्द्रमा पहते हैं। अपने शीतल

I have not taken my food to day.

पथ से थकी हुई तारा की संतान अपने खेल समाप्त कर उसी से चली जाती है। ” ‘ज्योत्स्ना’ ।

हन सूक्ष्म शब्दाधारों पर पंतजी ने ‘ज्योत्स्ना’ के रूप में एक भावकृति, शब्द-चित्र, कल्पना, स्वप्न और आदर्श की सरस अनुभूति हमें दी है। उनके काव्य की विचार धारा का एक सरस, सुखद, बहुमुखी प्रकृति समन्वित भाव इस गीत प्रधान नाटक में वडी ही भाव प्रवणता के साथ खिल उठा है, जो हिन्दी भाषा की भाव-प्रकाशन शक्ति का भी घोतक है। ‘भारत दुर्दशा’, ‘कामना’ और ‘ज्योत्स्ना’ ‘कमशः भाव-रूपकों का हिन्दी नाव्य साहित्य में एक क्रमिक विकास इमारे समक्त रखते हैं।

भारत दुर्दशा में वहाँ केवल भारत है, उस समय की देश भक्ति पूर्ण भावना ग्रकट हुई है वहाँ ‘कामना’ में सरस काव्योचित शुर्णों के साथ प्रकृति, विश्व और भारत के स्वापदरण के सुन्दर चित्रण हैं। ‘ज्योत्स्ना’ में काव्य कल्पना, कवि-स्वप्न और आदर्श के साथ विश्व बन्धुत्व की तब तक की सरस भावनाओं, विचार-धाराओं, अनुभूतियों के सार भाग का सुन्दर साहित्यिक रूप हमें प्राप्त होता है। पंतजी की इस कल्पना में उनका ही सब नहीं है। पूर्व पुष्ट तत्कालीन विचार-धाराओं के अध्ययन के पश्चात मैं इसी निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ। इस पर पहुँचने से मेरा आशय यह नहीं है कि मैं क्लेखक, कवि या नाटक-कार को केवल इसी कारण नीचा समझता हूँ। यह कारण तो रहता है, रहा है और रहेगा। इसके कारण किसी कलाकार को मैं किन्हीं अंशों में भी निम्न नहीं समझता। मेरा विचार तो केवल इतना ही है कि उन कारणों और परिस्थितियों, वातावरणों एवं प्रवृत्तियों को खोजना जिनके कारण सरस साहित्य, सुन्दर कला-कृति अधिवा किसी भाव-रचना का भूम छोता है, जो क्लेखक, कवि, कलाकार के मस्तिष्क पर, हृदय पर इतना

प्रभाव ढालती हैं कि उसकी कला-प्रदर्शन, ग्रहण करनेवाली शक्तियाँ जाग्रत हो जाती हैं और उससे वरवश अमर कृतिएँ लिखवा लेती हैं।

प्रथमतः विचार समाज-दृष्टाओं, विचारकों, दैनिक समस्याओं पर ध्यान देनेवालों आदि के मस्तिष्क से, महान आत्माओं कैसे गाँधी जी सद्गुर व्यक्तियों से उद्गत होती रहती हैं। ये स्वतंत्र रूप से व्यक्ति विशेषों में भी पारस्परिक आदान-प्रदान द्वारा सृजित होती रहती हैं। स्वयं लेखक, कवि या कलाकार में भी उद्भवित होती रहती हैं। इनसे उड़कर हवा में, वातावरण में फैलती हैं। जो जितना अधिक ग्रहण शील, संवेदनाशील कलाकार या लेखक होता है वह उतने ही शीघ्र उनसे प्रभावित होकर उन्हें ग्रहण और प्रदर्शित किया करता है। स्वयं ये विचार-कण उसके हृदय, मस्तिष्क और आत्मा में भिदते जाते हैं एकाकार करते हैं उनकी पूर्व उर्वरा शक्ति का उपभोग करते हैं औ तब हम देखते हैं किसी कलाकार की आत्मा से निस्सृत हुआ उसक आत्मा का रस, उसके कोने-कोने में समाया हुआ, उसकी आत्मा को कोने-कोने को स्पर्श करनेवाला रस वह वसुधा को देता है और एक अपूर्व अलौकिक आत्मतुष्टि का अनुभव करता है। सृजन करता है।

इसमें पंतजी ने अपनी काव्य-कल्पना, स्वप्न और आदर्श बड़े ही सुन्दर रूप में प्रदर्शित किये हैं।

पंत विशेषणों, शब्दों, प्रकृति और गीतों का कवि है। इस नाटक में उसकी ये सब विशेषताएँ सुन्दर और सरस रूप में एक ही स्थान पर एकत्रित और निचुड़ी हुई पाई जाती हैं। उसकी कल्पना सूखमातिसूखम है, उसके स्वप्न सुखद, आहादकारक जीवन खोत हैं। उसका काव्य प्रकृति सहचर भावनाओं को प्राकृतिक पदार्थों को काव्य में प्रयुक्त होनेवाले प्राणियों को, शब्दों में ढालनेवाला, उन्हें के समझ और अनुरूप भाव-लहरिएँ पैदा करनेवाला है। जैसा राग-रागिनियों के सम्बन्ध में कहा जाता

है कि वे असुक-असुक समय असुक-असुक प्रकार से असुक-असुक प्रभाव पैदा कर सकती हैं वैसे ही पंतजी के गीत और अभिनय के लिये वेश-भूषा-भाव आदि के संकेत उसी प्रकार का यथावत भाव शब्दों द्वारा प्रकट करने में पूर्ण समर्थ हैं। पंत में जो इस प्रकार का कवित्व है उसकी भूरि भूरि प्रशंसा करना पड़ती है। पंत शब्दों द्वारा उन पदार्थों की जैसे ज्योत्स्ना, उपा, पवन आदि एवं प्रकृति के प्राणियों की जैसे जुगनू, कोक, महोक आदि एवं पुष्पों आदि की पूर्ण अनुभूति हमारे मानस पट पर बरवा देते हैं। पंत कवि जो अनुभव करता है, देखता है उसमें जो भर देता है उसे वह थड़ी ही कुशलता के साथ, सरसता के साथ हम तक पहुँचा देता है।

उनकी इस सरसता में एक बात हमें कर्णकदु और वेदव-सी नजर आई। वह ज्योत्सना के अनुचर उल्लूक की है। उल्लूक शब्द अब तक की परम्परा द्वारा मुझे कदु प्रतीत होता है। रजनी अनुचर हुआ होता तो कोई आपत्ति नहीं थी क्योंकि रजनी से (ज्योत्स्ना के होते हुये भी) हम अन्धकार का भाव ग्रहण कर सकते हैं। अंधकार पूर्ण रात्रि में ही उल्लू की विशेषता है उसके देखने के कारण। किन्तु चाँदनी रात में उसका विशेष महत्व नहीं यद्यपि वे चाँदनी रात में किसी अदृश्य लोक में नहीं भाग जाते हैं। इसलिये ज्योत्सना के साथ उल्लूक का होना रस विरस करता है। खटकता है।

मनुष्य के जीवन में एक समय ऐसा आता है जब “शिशुता की झलक” छूट जाती है। वह कवि हो उठता है। स्वप्न और कल्पना उसके सहचर बन जाते हैं। आदर्श और भविष्य उसके पथ-प्रदर्शक बन जाते हैं। यहाँ तक कि वह चत्तेमान की अवहेलना करता हुआ ऊर्द्ध सुख हो जाता है। ऐसे ही समय की पंतजी की यह रचना प्रतीत होती है।

यथपि गुंजन-सी धौड़ रचना के बाद, यह हिन्दी संसार को मिली। संभवतः 'कामना' के प्रकाशित होने के बर्पे दो चर्चाओं के अन्दर ही।

रचना भाव-प्रधान है हृसलिये हृसमें व्यापार का कोई विशेष स्थान नहीं। संघर्ष, अंतर्दृढ़, घात-प्रतिघात, घरिन्व चित्रण कुछ भी नहीं। कथावस्तु भी सुसंगठित या नाटक के योग्य नहीं। विलासी और सामजिस्य-हीन है। केवल विचारों परं भावों को ही अधिक महत्व दिया गया है। नाटकीय अन्य थंगोंपर ध्यान नहीं दिया गया। हाँ नाटकीय वेश-भूपादि के संकेत अवश्य दिये गये हैं जो पृष्ठ और विस्तृत हैं और लेखक के तद् विषयक निरीक्षण और अवलोकन के परिणाम हैं। किंतु हिन्दी का रंग-मंच ही नहीं। हृस प्रकार के रंग-मंच केवल यूरोपीय रंग पर यने हुये हों तय ही हृसका अभिनय किया जा सकता है। पर प्रेतक को यह कहीं तक रस-प्राप्ति कर सकेगा यह विचारणीय है। कवि हृदय रसिक हृस प्रकार की भाषा और भावों से परिचित साहित्यिक प्रेतकों का यह अवश्य मनोरंजन करेगा मिलु किर भी पढ़ने में स्वयं निली कल्पना के आधार पर लो आनन्दातिरेक वे प्राप्त कर सकते हैं उससा चतुर्थांश भी वे इससे नहीं कर सकेंगे। यथोऽकि भावप्रधान नाटकों में यदि हृस प्रकार की भाव-प्रवणता रहेगी तो अवश्य उनके अभिनय किये जाने पर वे कम समझे जायेंगे और कम रस ग्रहण किया जा सकेगा। 'प्रवाद' के नाटकों में भी यही दोष रंग आया है जिसका कुछ अंशों में बाद में परिहार हो गया है। हृसलिये हृस रचना को अन्य काव्य के अन्तर्गत लेकर ही हृस पर विचार करना उचित है। नहीं तो अभिनय की इष्ट से तो यह वस्त्रों के खेल या खिलवाद मा प्रतीत होगा; जैसे जुगुनुओं का अभिनय करते समय छोटे बालकों का पर लगा कर आजा। हृसी प्रकार से अन्यपात्र जैसे ज्यो-स्ना, हंडु, पवन, सुरभि आदि सी हमें अभिनय के समय वास्तविकता के आनन्द देने में समर्थ नहीं हैं। कई

स्थानों पर मूरु अभिनय है और गीतों की इसमें आवश्यकता से अधिक भरमार है। यह इस दृष्टि से भी अभिनय के योग्य नहीं। हाँ सवाक चित्रपट पर सम्भव है, इसका योग्य अभिनय किया जा सके क्योंकि उसमें रङ्ग-भंच के समान स्थल का संकोच नहीं होता और रात्रि का चित्रण भी सुन्दर हो सकता है। जिस प्रकार के प्रकाश अथवा रङ्ग-लेखक प्रयुक्त करवाना चाहता है उनका प्रबंध यातो आधुनिकतम यूरोपीय नाट्य-गृहों में हो सकता है अथवा सवाक चित्रपट तैयार करनेवाली कंपनियों के रट्टियों में।

इस प्रकार के नाटकों का एक उपयोग और हो सकता है। वह यह कि ये संगीत गृहों के लिये सर्वोत्तम कृतिएँ हो सकती हैं। जहाँ पर अभिनय की ओर कोई विशेष लक्ष नहीं रहता केवल संगीतमय गीतों का ही प्राधान्य रहता है। यह रचना ऐसे ही स्थल के अधिक योग्य है जहाँ गायन-वादन और मूरु अभिनय के साथ-साथ इसकी कथावस्तु भी धीरे-धीरे चला करे।

सावरमती आश्रम महात्माजी के स्वप्न, कल्पना, आदर्श और अन्तर्निहित कवित्व का साकार और सजीव रूप था। महात्माजी ने अपने

प्रसुत महत्वपूर्ण आदर्शों को एक बार कार्यान्वयित करने की 'एक धूट' उसमें चेष्टा की थी। स्वास्थ्य, सरलता और एक प्रकार के

आंतरिक सौंदर्य का नमूना उसे वे बनाना चाहते थे और बहुत कुछ अंशों में वे सफल भी हुये थे। इसी समय कवित्य घटनाओं ने उन्हें उक्त आश्रम से विरक्त कर दिया। उनका एक आदर्श वहाँ सपत्नी के रहते हुए व्रत्याचर्य पूर्वक रहना भी था। एक दूसरा आदर्श था स्वावलंबन जिसमें शिक्षित और उच्च कुलीन तक साइरू लगाने और पाखाने साफ करने तक का कार्य निःसंकोच करते थे। हन आदर्शों की पूर्ति में जिस समय वे लगे हुए थे तब ही इस बात की चर्चा फैली कि

आध्रम वासियों का जीवन उतना संयमित नहीं है जितना कि होना चाहिये । कतिपय दोप और कमियाँ इसमें आ गई थीं और महात्माजी को उसे बन्द करना पड़ा । इसके बन्द करवाने में मानव-मनोविकार मुरल्य थे जो स्वाभाविक और सहज थे । उन मनोविकारों पर विजय प्राप्त करना दुष्कर या, दुष्कर रहा है और यदि दुनियाँ को, मानव समूह को जीवित रहना है, सृष्टि को रहना है, तो ये मनोविकार दवाये नहीं जा सकते । इसमें नारी-पुरुष का पारस्परिक आकर्षण सृष्टि के सज्जन के लिये अतिवार्य है । यह आकर्षण सृष्टि को सीमित, कमित और सर्वथा नष्ट होने से बचाता रहा है । इसी ने प्रत्युत सृष्टि की वृद्धि करके नहै-नहै समस्यायों को जन्म दे दिया है । इसी आकर्षण ने विश्व-वैद्य-विभूति को भी उसके बाल-आग्रह पर चेतावनी दी और उसे पीछे हटना पड़ा ।

इसी समय असहयोग आंदोलन ने जो किरणें स्वतंत्र भावनाओं की विकीर्ण की थीं वे भारत में फैल चुकी थीं । उक्त आंदोलन तो रुक गया था किन्तु उसकी भाव लहरिये तरंगों के समान किनारों तक पहुँच रही थीं । उसी समय कतिपय भावुक कवि हृदय ऐसे शब्द-बादी तरण दिखाई देते हैं जिन्होंने एक विशेष प्रकार के शब्दों को, उनके प्रकाशनों के द्रुंगों को कृच्छ्र अस्पष्ट भावों को चुना, जिनके सहारे वे भावुकता वश एक कृत्रिम जीवन को श्रेयस्कर समझने लगे । अपने को उसी जीवन के अनुरूप गढ़ने लगे और अपनी इस गढ़न को स्वाभाविक मान कर नवर्य को अनजाने धोखे में रखने लगे ।

कतिपय हन्दीं वातों का चित्रण इमें 'प्रसाद' के 'एक घूँट' में मिलता है । इसकी कृच्छ्र वातों का मूलांकुर और सूचम को पंत ने भी 'ज्योत्स्ना' में विकसित पद्धतिवित और वृद्धिगत किया है । यहाँ तक कि चंदुलों का हास्य भी इमें 'ज्योत्स्ना' के छाया और उल्लू के चारोंकाप

में समाजुत्तमतः उतनी ही दूर की नाव्य सामग्री में मिलता है । किंतु 'प्रसाद' ने 'एक घूँट' को अपने कवित्व और भावनाओं के योग्य गदा है । 'कामना' के समान इसमें उतनी कल्पना नहीं है । जो है वह वास्तविक और जीवन के अति निकट की । इसमें शिक्षित झाड़वाला एवं उसकी स्त्री के समझोते एवं 'वन्नलता' के असंतोष और अलृति के अभाव का विस्तार, बृद्धि और विकास लघ्मीनारायण मिश्र ने भी किया है । इस लेखक ने 'प्रसाद' से कविता में भी यहुत कुछ लेकर, उसके भारतीय और प्रसादोचित काव्याच को लेकर, पाश्चात्य अभिव्यक्ति एवं स्पष्टीकरण सहित उसका निर्दर्शन किया है । प्रसाद तुलसी था । मालूम पहला है आगामी २५ अपूर्ण में साहित्य अध्ययन और मनन के पश्चात् ज्ञात होगा कि सूर और तुलसी की उक्तियाँ और उपमाओं के समान प्रेमचन्द और प्रसाद से भी कहाँयों ने शब्द, रचना, भाव लहरिएँ ग्रहण की हैं । कइयों में तो वे इनके व्यापक प्रभाव के कारण स्वभावतः ही आगई होंगी ।

'एक घूँट' में अहणाचल आश्रम की कथा है । "अरुणाचल पहाड़ी के सभीप एक हरे-भरे प्राकृतिक बन में कुछ लोगों ने मिल कर एक स्वास्थ्य निवास बसा लिया है । कई परिवारों ने उसमें छोटे-छोटे घर बना लिये हैं । उन लोगों की जीवनयात्रा का अपना निराला ढंग है, जो नागरिक और ग्रामीण जीवन की संधि है । उनका आदर्श है सरलता स्वास्थ्य और सौदर्य ।"

इसके पात्रों में आश्रम के मंत्री कुञ्ज एवं उत्साही और तर्क-शील युवक मुकुल का कोई विशिष्ट स्थान नहीं । वे केवल कतिपय प्रसंगों पर पूर्तियों का ही काम करते हैं ।

रसाल 'एक भावुकक्षिति' है । प्रकृति से और मनुष्यों से तथा उनके आचार-व्यवहारों से अपनी कल्पना के लिये सामग्री जुटाने में व्यस्त

सरल प्राणी है । कवि है इमलिये पद्मपना और निराप से उसे प्रेम है । पद्मपना और निराशा के संघर्ष के विचारों पर जब 'आनन्द' कहता है 'ऐसी भावनायें दृश्य को कायर बनाती हैं' तब वह निराप, अकिञ्च भाव से स्वीकार कर लेता है "कि यह मेरी पद्मपना की दुर्योगता है ।" आनन्द के इम ध्येय को कि प्रेम का प्रचार करके, परस्पर प्यार करके, दुःखमय विचारों को दूर भगाना चाहिये, वह स्वीकार करता है किंतु इसमें उसकी आधमा कभी भीगी नहीं । उसके दृश्यकवित्य एवं निराप के कारण इसी वह बनजाता को प्यार करता हुआ भी संतुष्ट नहीं कर सकता है और न इतना विश्वास करा सकता है कि वह वसे चाहता है । घनलता सदा उसे अपने में मिला रखना चाहती है । रसाल पा इससे कोई दुरत्व नहीं, उसे कोई आपत्ति नहीं, पर वह जो कवि है, भावुक है, घनलता में, नारी में द्युमिल नहीं जाता । अन्त में वह अपनी प्रियतमा घनलता को पदिधान लेता है । शायद नारी के प्रति कवि का भी कृद्ध कर्तव्य होता है इसे महसूस कर लेता है ।

और घनलता वह 'अपने पति की भावुकता से असंतुष्ट' है । "उसकी समस्त भावनाओं को अपनी और आकर्षित करने में अस्त रहती है ।" वह नारी थी । नारी ने सदा से पुलप के लिये वंधनों की सृष्टि की है । नारी के नारीत्व ने, उसके नारीत्व की विजय ने सदा मनुष्य को पराजित किया है । मनुष्य ने स्वतंत्र होने की खुब ही चेष्टाएँ की हैं । आज भी मनुष्य पाश्चात्य सम्यता, हमारा आज का अप-डु-टेट भारतीय तस्लियां नारी स्वातंत्र्य और स्वच्छन्द प्रेम के नाम पर 'नारी' समानाधिकार के नाम पर उसे अवसाय और धंधे देकर स्वतंत्र करना चाहता है । किंतु नारी के अन्धन इतने दृढ़ हैं कि मानव का ही क्या महामानव भी उसके अन्धनों की अवहेलना करने में समर्थ नहीं । उसका नारीत्व जहाँ पराजित होता है वहाँ उसकी सृष्टि संतति-मोह उसे सुदृढ़ बाहुद्धों में कसे

रहता है। और सबसे बड़ा अचूक शख जो नारी के पास है पुरुष को वश में करने का वह उसका रूप लावण्य नहीं उसकी विवशता और व्यथा है जिसका कंदन पुरुष को कभी स्वतंत्र नहीं होने देगा। नारी आकर्षण जहाँ पराजित होगा वहाँ उसकी घनीभूत व्यथाएँ और विवशताएँ मनुष्य को सदा पराजित करती रहेंगी।

इसीलिये बनलता भी रसाल की कविता की इस पंक्ति से 'भूल और अपने को मत रह जकड़ा, बन्धन खोल' टीस और कसक से भर जाती है। उसे अभाव और अतृप्ति का भान होने लगता है। वह निरंतर इसी स्वच्छंद प्रेम की सफलता को विफल करने में लगी रहती है। अंत में इसी 'उच्छृंखल प्रेम को बाँधने में वह सफल प्रयास होती है। वह प्रेमलता और आनन्द के संबंध में भी सफल होती है। युवक आनन्द जहाँ शब्दांदंवर में एक विशेष भाव-भंगिमा के साथ जब स्वच्छंद प्रेम की व्याख्या और समर्थन करता है, सब पर सम प्रेम का दावा करता है तब ही नारी बनलता उसके पाखंड को ताढ़ जाती है। उसे नारीत्व में व्याप्त शक्तियों का दृश्य अचल विश्वास था। वह जानती थी कि 'आथ्रम में एक प्रेमलता ही तो कुमारी है और यह 'आनन्दजी' भी कुमार ही हैं।' " 'आत्रम के 'आनन्द' कुमार हैं और प्रेमलता कुमारी इनका संपर्क, इनका मिलन इनका एक दूसरे में रस लेना उसी मानव रूपभाव की प्रतिक्रिया है जो प्रति मानव में व्याप्त है' उसे यह 'असंतोष रसाल के प्रति अवश्य था कि " निरीह भावुक प्राणी ! जंगली पश्चियों के बोज, फूलों की हँसी और नदी के कल्पनाद का अर्थ समझ लेते हैं। परन्तु मेरे अंतर्नाद को कभी समझने की चेष्टा भी नहीं करते।' " आनन्द उसकी इस स्थिति से परिचित था। वह एक स्थान पर, उससे कहता है " 'देवी, तुम्हारा तो विवाहित जीवन है' न, तब भी हृदये भूखा और

प्याभा । दूसी से मैं सर्वव्यंदि प्रेम का पदपात्री हूँ । यह कहती है—
“देखूँ तो मस्तिष्क विजयी होता है कि हृदय । ”

प्रेमलता एक अद्भुत किलोर वय कुमारिणा है । युवक, जिन उसके मनोनुकूल या भावुक युवक ‘आनन्द’ उसका प्रेम-पात्र सरलता से बन जाता है । वह भी आनन्द में एकाकार होने का स्वप्न देखने लगती है । उसमें आकर्षण, प्रेम जाग्रत हो जाता है और अन्त में बनलता के कथनानुसार उसका आनन्द से पाणिप्रहण हो जाता है ।

आनन्द उन भावुक तरुणों का नमूना है जो एक विशिष्ट छविम शब्दावली, भाव-प्रकाशन की शैली के आधार पर अपने को साधु घोषित किया जरते हैं या दिखाया जाते हैं । अनुभव हीन इन तरुणों के कुछ आदर्श, कुछ स्वप्न और कुछ आकर्षण पैदा होती हैं । उन्हें पूरा ज्ञाने का इद निश्चय और सामर्थ्य होता है । किन्तु प्रकृति के नियम वश द्वैसे वालक, तरुण और फिर चूड़ा होता है, उनके स्वप्न अलौकिक से लौकिक, उनके आदर्श व्यवहारिकता की सतह को छूते हुए और उनके निश्चय और सामर्थ्य परिस्थितियों के सहचर हो जाते हैं । स्वतंत्र प्रेम के पत्रपात्री ‘आनन्द’ की भी यही दशा होती है । उसके लुभावने आदर्श, सिद्धान्त आत्म वासियों को विस्मय-विसुग्ध, और उसकी और आकर्षित कर देते हैं । प्रेमलता के हृदय में उसके प्रति प्रेम पैदा कर देते हैं किन्तु अन्त में बनलता द्वारा कथित हृदय की ही उसके मस्तिष्क पर विजय होती है ।

इनमें वालकों के समान अनुकरण, बाल चित्रण और साधारण बातें पाई जाती हैं । ‘प्रायरिचत’ के पहिले ‘सज्जन’ लिखा गया ऐसा मालूम पड़ता है क्योंकि पहिले कोई रचना प्रायः ‘प्रसाद’ की वाल-कृतियें, अनुकरण से शारंभ होती हैं इसलिये ‘सज्जन’ में ‘सज्जन’ और ‘प्रायः’ संस्कृत के नाटकों का अनुकरण, प्रभाव और ... द्वितीय शैली दिखाई देती है । वही आदि में नान्दी और

वह भी उसी ढंग का जैसा संस्कृत नाटकों में पाया जाता है। उन्हीं की तरह नटी और सूत्रधार का वार्तालाप होता है और उन्हीं की तरह इस वार्तालाप से ही किसी शब्द या घटना का आधार लेकर नाटक का नामकरण होता है तथा नाटक की कथावस्तु का प्रारम्भ मान लिया जाता है। श्रोकों के ढंग की ही कविताएँ और उनका प्रयोग है। अन्त में भी भरतवाक्य के ढंग की ही कविता है अथवा भरतवाक्य न लिख कर भरतवाक्य दे दिया गया है अर्थात् अन्त में भरतवाक्य के जैसी शुभ कामना प्रकट की जाती है वैसे ही इसमें भी की गई है। कथानक और कथोपकथन बालकों जैसा खिलवाड़ है। कर्ण-विद्युपक का, दुश्शासन-राज्ञस का, भीम, अर्जुन आदि का वार्तालाप भी उसी प्रकार का है जैपा प्रायः बालक देखना अथवा दिखाना पसन्द करते हैं। चित्रसेन और अर्जुन का युद्ध भी इसी तरह का है। दोनों द्वन्द्व युद्ध करते हैं किंतु एक-दूसरे को पहिचान नहीं पाते हैं। किंतु यह दोप नहीं बाल-क्रीड़ोचित है। लेखक का उद्देश्य तो युधिष्ठिर की सज्जनता दिखाने का है और इसलिये कथा को पुक छोटेसे नाटक के दायरे में बन्द कर दिया गया है।

पर बाल-कृति होने पर भी लेखक का मानसिक विकास इसमें स्पष्ट रूप से भलकरता है। प्रारम्भ में लेखक अनुकरण से प्रारम्भ करना चाहता है किंतु उसका प्रतिभावान स्तिरण प्राचीन अनुकरण को आद्य नहीं करता और अन्त में अनुकरण करता हुआ भी, भरतवाक्य का आशय और आत्मा लिखता हुआ भी भरतवाक्य लिखना छोड़ जाता है। 'प्रायश्चित' में तो एक बार ही उसने इस प्राचीन प्रथा को तिलां-जुली दे दी है।

'प्रायश्चित' तक पहुँचते-पहुँचते कविता के समान इन लघु-नाटकों में भी प्रौदता आने लगी थी। इसमें 'प्रसाद' ने जयचन्द्र के रूप में

हमारे विचारों को घक्क किया है। भारतीयों के हृदय में जयचंद्र एक कलुप, एक देश-द्वोही, एक परित के रूप में अंकित हो गया है। भारत की पराधीनता का प्रथम आत्मानकर्ता केवल वही नहीं था। उस समय की विकृत पारस्परिक द्वेषों से दूर राजपूत-शक्ति थी। जयचंद्र ने इस शक्ति का उस समय प्रतिनिधित्व किया था। पारस्परिक मनोमालिन्य की वेदी पर भारत की स्वाधीनता की बलि दी थी। इसलिये भारत-वासियों की खीज तो जयचंद्र पर ही निष्पलनी है। निकलती है उसके द्वेष, देश-द्वोह, कायरना, नासमझी और शशु-पक्ष से यहायता की याचना पर।

‘प्रायश्चित’ में प्रसाद ने ऐसा ही चित्रण किया है। कथानक दो विद्याधरियों के वार्तालाप से प्रारम्भ होता है। उनमें एक “हिंदू-साम्राज्य-सूर्य” “चौहान-कुल-भूपण” पृथ्वीराज के ‘सर्वत्स्वान्त’ का कारण समझाती हुई कहती है, “यदि भाई का राज्य भाई न हो—यदि शैलवासिनी सरिता ही शूंग को न तोड़े—तो भला दूसरा यथा कर सकता है?” दूसरी पृछती है “क्या किसी नीच भारतवासी का ही काम है?” कैसा कथानक प्रारम्भ होनेवाला है, जैसा चित्रण किया जानेवाला है उसी के अनुरूप पृष्ठ-भूमि तैयार की जा रही है। ‘प्रतिर्हिसा’ का समर्थन वे करती है। उसे लीवित राष्ट्र का चिह्न मानती हैं। इसी समय एक आहत प्यासे की ओर उनकी हटि जाती है और वह जयचंद्र ही निकलता है। वे इस ‘चारडाल’ से कुछ प्रायश्चित कराने के इरादे से उसी ओर जाती हैं। दूसरे दृश्य में जयचंद्र पृथ्वीराज की चिता की राख को द्वेषशक्ति लुचलना चाहता है किंतु ये ही विद्याधरियें उसे निसमें संयोगिता की भस्म भी मिली हुई है चेतावनी देकर उसे इस कार्य से विरक्त, उसके कार्य से उसे ही लजिज्जत और प्रायश्चित की ओर अग्रसर करती हैं। वे उसे “ज्ञामातृ-वध के लिये शशु-वध और देश-द्वोह के लिये ‘आत्म-वध’

की बात सुझाती है। तृतीय-दृश्य में जयचन्द्र मुहम्मद गोरी की उसी पर चढ़ाई करने के संबंध में बातचीत करते हैं। पाँचवें दृश्य में एक बार वह चेष्टा करता है कि भारत की राजपूत जाति उसका साथ दे, किंतु ऐसा हो नहीं पाता। राजागण तरह-तरह के बहाने बना कर किनाराक्षी कर जाते हैं। छठवाँ उसके गंगापरण का दृश्य है।

इस नाटिका से हम भारतीय संस्कृति के संपोषक, कल्पना और कविता के धनी प्रसाद से परिचित होने लगते हैं। उनकी स्वतंत्र और

मौलिक भावना का पता हसी से लगता है कि 'प्रसाद' के ऐतिहासिक इसमें कथानक सीधे-सीधे छः दृश्यों में बाँट दिया नाटकों के मूलांकुर गया है। हसी में उनकी आत्मा का प्रारम्भिक

उवाल, उनकी कल्पना का मूलांकुर, कविता के अभाव में भी उनके कवित्व की सूखम झलक दिखाई देने लगती है। कथानक का संकलन और विभाजन, प्रबंध और प्रवंध-कुशलता के दर्शन भी इन्हीं वाल प्रसाद के नह्नें प्रयासों से होने लगते हैं। उस 'प्रसाद' के, 'प्रसाद' की उस महानता के जिसने भारतीय इतिहासाध्ययन के आधार पर अपनी रचनाओं द्वारा आज भी और भविष्य में भी भारत के लिये उन परिस्थितियों, पद्ययत्रों, संघर्षों का चित्रण किया है जिनसे भारतवासी शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। भारत सदृश महाद्वीप, महादेश का जिन परिस्थितियों ने, कारणों ने, अपकार किया है, उसे साम्राज्य में बंधने नहीं दिया है और बंध कर बिखर जाने दिया है उनका सर्वांग-पूर्ण चित्रण किया है। 'प्रसाद' हजारों वर्षों के पीछे की तह-की-तह को खोलते हुए अन्दर-ही-अन्दर हुसरते गये हैं। उनमें रंग गये हैं। उस समय के हो गये हैं। तुलसी वादा ने "नाना वेद-पुराण निगमादि" में जैसे पैठने का साहस किया था और वे रामसय हो उठे थे। ऐसे ही हमारे आज के इस युग का तुलसी भारतीय इतिहास के गौरवसय युगों

में पैठा है, रमा है, और विजरा है और कल्पना और काव्यमय हो उठा है। इतिहास को सरस, काव्यमय, उन युगों को सधिग्र और वर्तमान बनाने में इस कल्पना और कवित्व के धनी प्रसाद ने श्रेष्ठतम अमर प्रबास किया है।

'प्रसाद' के नाटकों को पढ़ते समय उन युगों के सजीव चित्र हमारे सामने आ जाते हैं। क्या भाषा, क्या भाष, क्या चित्रण, क्या घटना, सब से हमें यही भान होने लगता है कि हम उन्हीं युगों में हैं और इसी-लिये उन युगों को समझने के लिये, उन युगों के जीवन, संघर्ष और राज-सत्ता की वारीकियों का अवलोकन करने के लिये हमें 'प्रसाद' को पढ़ना होगा। प्रसाद के नाटकों को अभिनय-योग्य समझने का पुक कारण यह भी है कि हम उन युगों को उसी रूप में देखना चाहते हैं। सिद्धान्ततः पसन्द करेंगे। किंतु जब वेही युग हमारे सामने असली रूप में प्रकट होते हैं तब हम 'प्रसाद' से यह क्यों आशा करते हैं कि वे उन युगों को हमारे युग में परिणत करें। यदि प्रसाद ने हमारे मन के अनु-फूल ऐसा ही किया होता तो क्या हम यद नहीं कहते कि उनके नाटक तो आधुनिक में लगते हैं। उस युग के सदृश नहीं नालूम पढ़ते। अभिनय में वेश-भूपा फिर उन कालों की व्यों रखी जाती है? स्टेज की सजावट और सामग्री पर इसी प्रकार का ध्यान व्यों दिया जाता है? फिर प्रसाद ने तो भाषा और भावों के द्वारा उन युगों को हमारे सामने ला रखा है। इतिहास की दुरुहता को प्रसाद की प्रतिभा गरल के समान पान कर रही है और सारतत्व और अमृत साहित्य, सच्ची कला, सुन्दर कृतियों अथवा नाटकों को हमें दिया है। जितना हम प्रसाद को पढ़ते जाते हैं उतना ही उनका इतिहास के आधार पर अवलंबित काव्यत्व, कला, सुन्दरता, प्रतिभा हमें अभिभूत करती जाती है। इतिहास का इतना उत्तम उपयोग अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। इसमें

संदेह नहीं 'प्रसाद' ने कल्पना से काम लिया है, किंतु उनकी कल्पना कला में आने के पहिले उस युग के साहित्य के कोने-कोने को सच्चे, यथार्थ रूपमें छान आई है। उनका अध्ययन, उनकी पैठ इतनी गहरी है, उनका वर्णन इतना वास्तविक है मानों कि प्रसाद उन्हीं युगों में पैदा हुए हों और यद्यु उनका संदेश देने, उनको स्पष्ट करने पुनः अवतरित हुए हैं। साधारण घटनाओं में थोड़ा-सा मत भेद किसी इतिहासज्ञ से ही सकता है किंतु इतिहास की आत्मा, उस युग की मूल भावना और जीवन से किसी का मत भेद नहीं हो सकता। उनके नाटकों में वेदकाल, मौर्यकाल, गुप्तकाल और हर्ष के समय का वातावरण स्पष्ट हो जाता है। और जिसकी पैठ इतिहास में है वह तो विस्मय विसुग्ध हुए बिना रह नहीं सकता यद्यपि शुद्ध कला या साहित्य की, मनोरंजन की दृष्टि से भी 'प्रसाद' में पर्याप्त है।

वेदकाल सभ्यता का आदि युग था। प्रकृति की मानव-सूजन-किया कुछ ही समय पहिले समाप्त हुई थी। सभ्यता एक नन्हे पक्षी के समान अपने नव पाँखें खोल रही थी। वह मानव अपने वेदकालीन को कुछ समझने तो लगा था किन्तु पूरा पहिचान चित्रण - 'करुणारथ' नहीं पाया था। धीरे-धीरे पितृशासन से राज शासन की नींव पड़ चुकी थी। प्राचीन विश्वास कुछ लुप्त हो गये थे, कुछ लुप्त हो रहे थे पूर्व कुछ नवीन आ गये थे। वह उस समय की सभ्यता रहित और सभ्यता के प्रारंभ के युग का संविधान था। उस युग में राज-शासन संबंधी एवं सामाजिक विचारों में तो काफी चिन्तन, ग्रहण और विकास हो गया था किंतु मानव मानव के संबंध का सुविधा नहीं हुआ था। नियम और ध्यवस्थाएँ कुछ प्रचलित हो गई थीं और कुछ हो रही थीं। नरवलि की आद्यकालिक प्रथा का राजा हरिश्चन्द्र तक अभाव नहीं हुआ 'था किन्तु उस समय एक संघर्ष

इस प्रथा के संबंध में उठ खड़ा हुआ, ऐसा जात होता है। इस प्रथा के पोपकों में संभवतः ज्ञापि विशिष्ट एवं विरोधकों में विश्वामित्र रहे होंगे और अंततः विश्वामित्र की सुधार पूर्ण नवीन विचार धारा ने प्राचीन प्रचलित प्रथा संबंधी विचार पर चिन्ह पाई होगी। हमी प्रथा का आरण्यान राजा हरिश्चन्द्र की कथा के रूप में चेद्रकाल में प्रचलित रहा होगा यद्यपि वाद में राजा हरिश्चन्द्र का महत्व विश्वामित्र से संवर्ष होने और सत्यवादिता को श्रेय मिलने पर आवश्य बढ़ गया होगा। हरिश्चन्द्र का प्रथम आरण्यान मीलिक, प्रारंभिक और स्वाभाविक रूप में है और दूसरा दार्शनिक और काव्य समन्वित। प्रथम समय के साथ लुप्त होना गया और द्वितीय साहित्यकर्ता ग्रहण करने के कारण वेदों से पुराणों तक, जनता तक चला आया, फैज़ गया। दूसरा एक सीमित साहित्य में देवा पड़ा रहा। यह उस समय की वास्तविक स्थिति का सूचक है।

'प्रसाद' की प्रतिभा ने, फरणा ने, 'फरणालय' में प्रथम ही को उना। ऐसा ही स्थल उना जहाँ उनकी गौरवशालिनी प्रतिभा को उचित स्थान मिल सके। यद्यपि यह कृति बहुत पहिले की है और इसके क्रिखने का उद्देश्य केवल अतुकांत कविता के मार्ग निकालने का है किन्तु 'प्रसाद' के अन्तर में पाई जानेवाली कहणा के कण भी इसमें था गये हैं। वहणा की जितनी गहराई इस गीति नाट्य में आना चाहिये थी उतनी न आने का कारण इसकी रचना 'प्रसाद' को प्रारंभिक कला के द्वारा होना है। इसमें अतुकांत कविता के मार्ग प्रदर्शन की ओर लक्ष्य होने के कारण चरित्र-चित्रण की और विशेष ध्यान न लाकर एक प्रथा विशेष और एक विचार-धारा के छोटे से संबंधी की ओर ही ध्यान जाता है।

संस्या समय राजा हरिश्चन्द्र चायु सेवन के लिए नौका विहार करते हैं। एक तूफान आता है और उनकी नाव अचल हो जाती है। आकाशवाणी

उनसे अपने पुत्र रोहिताश्व के बलि की प्रतिज्ञा की याद उन्हें दिलाती है और जब तक वे घर पर पहुँचकर इस प्रतिज्ञा की पूर्ति का पुनः वचन नहीं दे पाते हैं तब तक नाव नहीं चलती है। राजभवन में पहुँचकर इसका अयोजन किया जाता है किन्तु रोहिताश्व प्राणों के भय से राजभवन छोड़ कर चला जाता है। चलते-चलते वह अजीर्णत जूषि के आध्रम में पहुँचता है। यहाँ अकाल पड़ा था और जूषि अपनी आजीविका जुटाने में असमर्थ और चित्तित थे। रोहिताश्व उन्हें गायें देने का वचन देकर उनके तीन पुत्रों में से एक माँगता है। वडा पिता को बछोटा माता को प्रिय होने से वे मँझके पुत्र शुनःशुफ को रोहिताश्व की जगह बलि देने के लिये देना स्वीकार कर लेते हैं। राज सभा विशिष्ट के आग्रह पर रोहिताश्व के इस कार्य की कि उसके स्थान पर एक अन्य वालक की वति दी जाय स्वीकार कर लेती है किन्तु शुनःशुफ भी प्राणों के भय से भगवान से अपने को वचाने की प्रार्थना करता है। विश्व से आकाश तक जैसे एक कंपन होता है। कोई उसका वध करने को तैयार नहीं होता। क्रूर आवश्यकता अजीर्णत को ही इस कार्य के लिये उद्यत करती है किंतु सुब्रता जो विश्वामित्र की गन्धर्व विवाहिता थी और राजा हरिश्चन्द्र के यहाँ दासी रूप में सेवा करती थी और शुनःशुफ जिसका विश्वामित्र से पुत्र था आती है और उसके वचाने को प्रार्थना करती है। विश्वामित्र पहिले से ही इस घोर कृष्ण का विरोध कर रहे थे अब राजा से आग्रह कर इस प्रथा को बंद करवा देते हैं और दूसरे से यज्ञादि का धी गणेश करवाते हैं।

इस कथानक से इस बात की भी पुष्टि होती है और एक प्रबल कारण मिलता है कि विशिष्ट से विश्वामित्र का महत्व जो पुराणों में पाया जाता है वह उनके सुधारवादी और नवीन विचारों के कारण ही हुआ होगा। यह व्यक्ति उस समय का अवश्य प्रतिभाशाली और

सौक्रिक विचारों का पोषक रहा होगा । उत्तिर्य से व्रत्तर्पि होनेवाली घटना से भी यही बात प्रकट होती है ।

॥ वेदकाल आर्य-जाति के विस्तार का उपाकाल था । महाभारत-काल तक पहुँच कर इसने उस कालीन सम्यता, राज-शासन आदि में काफी प्रीदता प्राप्त कर दी थी । आर्य-जाति आदि पूर्ण-
'जनमेजय का नागयश' तया भारतवासी हो गई थी । उनके उपनिवेश अब पुक देश हो गये थे । उनकी सम्यता और शासन का केन्द्र सरस्वती और यमुना के निकटवर्ती रवरा भूमि हो गई थी । वह साम्राज्यवादिता, जिसे उस काल की भाषा में उक्तवर्तित्य कहा जाता था और जिसका श्रीगणेश अश्वमेध की आयोजना से प्रारंभ होकर उसकी सफलता तक पहा फ़ करा, का काल था ।

उस समय "नाग जाति भारतवर्ष की एक प्राचीन जाति थी जो पहिले सरस्वती के तट पर रहती थी । भारत जाति के उत्तिर्यों ने उन्हें वहाँ से खायदव बन की और दूराया । खायदव में भी वे अजुर्न के कारण न रहने पाये ।" नाग जाति को अपने पूर्व गौरव का ध्यान था । अपनी खोई हुई सत्ता की पुनर्पांसि की आकांक्षा थी । वह जाति दबी हुई, पराजित, नवीनतम आर्य-शब्दों से अनभिज्ञ और पिछड़ी हुई थी । किंतु आर्य-जाति से प्रतिकार लेने के साथ ही साथ उस समय उसके जीवन-मरण का प्रश्न भी उसके सामने था । आर्य-जाति बदती और कैलती जाती थी और यहाँ के आद्य मूल निवासियों को जंगलों की ओर, पार्वतीय गुफायों की ओर तथा अन्य विन सोजे स्थानों की ओर खड़ेहड़ती जाती थी । दोनों जातियों में संघर्ष चल रहा था । शान्ति नहीं थी । वे अपनी जाति को नेस्तनायूद देखना नहीं चाहते थे । जीना चाहते थे । स्वयं आत्म-घात कर के मर नहीं सकते थे और जय तक यह जाति जीवित थी, उनमें मिल नहीं जाती थी तब तक आर्य जाति पनप कैसे

सकती थी ? उसकी वृद्धि और उन्नति इस जाति के नाश पर या आत्म-सात कर लेने पर निर्भर थी। प्रारंभ में श्रीकृष्ण की सम्मति पर अर्जुन ने उनके सर्वनाश का उपक्रम और इह आयोजन किया। खारडव को अप्रिसात् कर दिया किंतु इस जाति का वह सर्वनाश नहीं कर सका। धीरे-धीरे वह पत्तप गई। अब उसके हृदय में आर्य जाति के प्रति विद्वेष और कदुता थी। वह निर्वल थी। उपाय हीन थी और पद्यंत्र और गोरिल्ला युद्ध के सिवाय उसके पास अब कोई अन्य उपाय शेष नहीं रहा था। “खारडव दाह के समय नाग जाति के नेता तत्त्वक निकल भागे थे।” अब “नागों ने ब्राह्मणों से संबंध स्थापित कर लिया था; और इसी कारण वे बलवान होकर अपने गये हुए राज्य का पुनरुद्धार करना चाहते थे”……… तत्त्वक ने काश्यप आदि से मिलकर आर्य सम्राट परीक्षित की हत्या की” थी। इसी ऐतिहासिक आधार पर ‘जनमेजय’ की रचना की गई है। इसमें दोनों जाति के न केवल संघर्षों का वर्णन है किन्तु नाग जाति और आर्य जाति के एकीकरण का भी वहत उद्देश्य है। पहिले तो जरत्कारु ऋषि की हत्या, बहु हत्या, के कारण जनमेजय अश्वमेध यज्ञ का आयोजन करता है। नाग जाति से संघर्ष होता है। तत्त्वक काश्यप आदि ब्राह्मणों से मिलकर जनमेजय के मार ढालने का पद्यंत्र करता है। किन्तु उसका वध तो हो नहीं पाता सम्राज्ञी वपुष्टमा का हरण हो जाता है। सम्राट जनमेजय अस्यधिक कुपित होता है। नाग यज्ञ करता है। नागों की आहुति दी जाती है। बाद में वह ब्राह्मणों से भी रुद्ध हो जाता है। किन्तु उसके गुरुदेव के आग्रह पर नाग यज्ञ का अंत होता है। महर्षि व्यास के आदेश पर वह तत्त्वक कन्या मणिमाला से पाणिग्रहण करके दोनों जातियों की युक्ता का सूथपात करता है।

यह नाटक कुछ अव्यवस्थित सा है। उस समय का किंखा हुआ जात

होता है जब कि प्रसाद के मस्तिष्क में हृतिहास के आधार नाट्य-रचना के लिये पूर्णतया जम नहीं पाये थे । वह कदाचित उनकी प्रतिभा के ऐतिहासिक अध्ययन का प्रारंभिक काल था । इसका प्रथम अर्द्धभाग नाग जाति के अपनी सत्ता की पुनः प्राप्ति के प्रयत्नों और जनसेन्य को परालित कर नाग जाति की वृद्धि करने का है । अंतिम अर्द्धभाग से ही प्रायः नाट्य कथानक का प्रारंभ होता है । संघर्ष प्रारंभ होता है । वास्तव में प्रथम अर्द्धभाग की सामग्री का प्रयोग मध्य में होना चाहिये था किन्तु प्रसाद अपने इष्ट विषय के लिये प्रथम भाग में ही पृष्ठ भूमि तैयार कर देते हैं । इस नाटक से हृतिहास को साहित्य या नाटक का रूप देने में वे सफल होने लगे हैं । । ।

इस ऐतिहासिक काल के आधार पर अवलंबित रचनाओं के बाद जिनके उपकरण साहित्यिक हैं इमारा ध्यान लिसे हृतिहासज्ञ विद्वान् ।

ऐतिहासिक काल कहते हैं, उस काल की तहों में 'प्रसाद' के ऐति-पैठनेवाली प्रसाद की रचनाओं की ओर जाता है । हासिक काल के 'अनातशनु', 'चन्द्रगुप्त', 'विशाख', 'स्कन्दगुप्त' और नाटक 'राज्यधी' तो ऐसी ही रचनाओं में आती हैं । 'ध्रुव स्वामिनी' की गणना यद्यपि इन्हीं रचनाओं में एक प्रकार से की जा सकती है किन्तु इनसे और उसमें कई ऐसे मौलिक भेद हैं जिनके कारण उस पर पृथक रूप से ही विचार करना उपयुक्त है । वह 'नीलदेवी' की श्रेणी में रखी जा सकती है । उसमें नारी-समाज की विवरता और ध्यया का चिन्नांकण है । वह 'प्रसाद' की सब रचनाओं के दोपों से रहित सब गुणों की एक छोटी सी ध्याली है । अभिनयोपयोगी नाटिका है । इनकी कथा वस्तु का विवेचन करते समय इमारा ध्यान भारतीय हृतिहास की महानता और कमज़ोरियों तथा आधुनिक बातावरण, जो १९१६ से १९३८ के बाद शुरू हो रहा है, की ओर

जाता है। भारतीय गुणियों और विडंबनाश्रों, महान और विखरे भारत के एकीकारण की समस्याओं तथा प्रजातंत्रों की सफलता और विफलता की ओर सहसा जाता है। प्रसाद के इन नाटकों में इस विषय पर विचार और मनन करने की पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती है। वह भारतीय भावना सन्निहित है जिसमें प्रसाद के आदर्श हैं।

सन् १९२० में जो जुघता पैदा की गई, जो नेतृत्व प्राप्त हुआ वह १९२८-२९ तक बढ़ता रहा। व्यवस्थित होता रहा। १९३२-३३

में वह चरमसीमा पर पहुँचा और १९३८ तक उन 'स्कंदगुप्त' काल की प्रयत्नों के फल स्वरूप कुछ परिणाम निकला। कुछ भारत में पुनरावृत्ति आशा बँधी और आज फिर हम देखते हैं कि उसमें विकृति

आ रही है। अव्यवस्था की ओर तरुण समाज का एक भाग दौड़ रहा है। जो देश को पीछे ले जानेवाला है, जो अव्यवस्था की सहित कर उसमें काँस्ति को लन्म देगा, किन्तु भारत नियम सुख-शाँति, स्वतंत्रता, व्यवस्था के लिये उत्सुक है, आकाँच्छी है, उसे वह दूर ले नायगा। और इसके बाद हितःहित क्या होगा उसकी ओर से मौन है। अदृष्ट और नियति क्या सृजन करेगी नहीं कहा जा सकता? किन्तु भारतीय इतिहास से, प्रसाद के उक्त नाटकों में विशेषकर 'स्कंदगुप्त' में शिर्षा ग्रहण करने के लिये बहुत कुछ है। कालेन में पहनेवाला तरुण 'स्कंदगुप्त' को पढ़ते हुए भी मनन नहीं करता, शिर्षा ग्रहण नहीं करता। भारत की हुर्दशा और इतिहास की अवहेलना करता है। परिणाम यह हुआ है कि केन्द्रीयकारण की भावना चत-विचर, छिन्न-भिन्न हो रही है।

किसी अन्य देश के संवंध में यह बात घटित होती हो अथवा न होती हो किंतु भारत के संवंध में तो आज की परिस्थितिएँ स्पष्ट रूप से बता रही हैं कि 'इतिहास में पुनरावृत्ति' का सिद्धान्त

भास्त मे केन्द्रीय-
करण की भावना
का निर्दर्शन पूर्ण रूप से लागू होता है। भारत एक महादीप,
एक महादेश है। कई प्रान्त यूरोप के कई देशों के
बराबर हैं। यूरोपीय देशों के समान यहाँ के देशों में
भी उपदेशीयता का भाव प्रबल रहा है। प्रान्तीयता
अथवा पराधीनता से लकड़े हुए भारत की विश्व-वन्धुता, गुज्जाम, निर्यल
भारत की विश्व-वन्धुता उसके लिए अभिशाप यन बन कर सदा उसे
सताती रही है। ऐतिहासिक काल के प्रारंभ से चन्द्रगुप्त, अशोक
कनिष्ठ, समुद्रगुप्त (गुप्त) चन्द्रगुप्त (गुप्त), विक्रमादित्य, हर्ष आदि के
प्रयत्न एकीकरण के लिए ही हुए हैं। सम्भव है उनमें किसी को
साम्राज्यवादिता की गन्ध आवे किंतु भारतीय साम्राज्यवादिता-चक्र-
वर्चित्व—भारत हितार्थ ही रही थी। समग्र भारत का भारतीय भाव
एक संस्कृति, एक जाति, एक धर्म, एक देश के कारण कभी हित्रि भिन्न
नहीं हुआ। प्रत्येक भारतीय अपने को एक ही समझता रहा। विभिन्न
प्रान्तों में वास्तव वौद्धत्व आदि के कारण एकता रही। इससे यह
सूचित होता है कि समग्र देश को एक ही भाव में देखने की आकांक्षा
प्रारंभ से प्रत्येक भारतीय में रही है। राजकीय सीमाएँ बनती और
विगड़ती रहीं किन्तु भारत के हृदय-स्थल में यहनेवाली समस्त भारत की
एक ही धारा सब में बहती रही। आज भी परिस्थितिएँ स्वार्थ और
मानापमान के कारण भी परातर होती जा रही हैं। इम लोग एक व्रांति
की ओर जैसे विवश होकर बढ़ते जा रहे हैं। इम जानते हैं कहाँ जा
रहे हैं किंतु अपने गमन को रोकने में जैसे असमर्थ हैं। उस क्रांति के
आवरण में प्रकाश और अधकार, आशा और निराशा दोनों हैं। देखना
यह है कि भारत भारत ही रहेगा अथवा प्राँतों में बँट जायगा। इम
अपना, भारत का कल्याण करेंगे अथवा हमारे शत्रुओं का, भारत की
स्वतंत्रता, शाँति, उन्नति के शत्रुओं का। आज प्रजासत्तात्मक प्रणाली

से उसके द्वारा होनेवाली शांति से, भावना से जैसे हम जब गये हैं । उस पर से हमारा विश्वास हटता जा रहा है । इन सब का हल है भारत के केंद्र का अति प्रबल होना । भारत में केंद्रीय शक्ति का न्यायी और प्रबलतम होना । यदि हम चाहते हैं कि भारत भारत हो रहे, प्रांतों में बैटकर अपने शरीरांगों को छिन्न-भिन्न न करे तो हमें समस्त भारतीय दृष्टि से ही विचार करना होगा । काँग्रेस ने एक बार पुनः भारत को एक सूत्र में विरो दिया है और हमारा कर्तव्य है कि हम उस सूत्र को तोड़ न डालें । इसके लिए हमें व्यक्तित्व को, प्रान्तीयता को तिलमिल देना होगा । व्यक्ति तो भरते रहेंगे, मानापमान तो आता जाता रहेगा, प्रांतीयता तो बदलती और बनती रहेगी किन्तु यदि हम भारत को एक और अखंड देखना चाहते हैं तो हमें अपना "अपनापन" खो देना होगा । भारतीयपन अपनाना होगा । सब बातों पर भारतीय दृष्टि से विचार करना होगा और जब तक भारत पूर्ण स्वतंत्र नहीं होता तब तक अन्तरराष्ट्रीयता से जाभ उठाते हुए भी उसका दम भरने से हमारा कल्याण नहीं होगा । हम यह जानते हैं कि शासन कितना आदर्श, राम-राज्य सा वर्यों न हो सब के साथ सदा न्याय नहीं हो सकता, सब की हच्छाएँ, आकांक्षाएँ पनप नहीं सकतीं । वे सब व्यक्तियों में, स्वार्थों, स्थितियों, भावों, विचारों, आचरणों तथा हृदय एवं मस्तिष्कों के कारण स्वाभाविक रूप से विभिन्न होती ही हैं । इस लिए उन सब में से हमें सब की समष्टि के कल्याण का मार्ग ही निश्चालना पड़ता है । यात यह है कि भारतीयता प्रत्येक व्यक्ति में समाना चाहिये । यही उचित भी है । किन्तु प्रत्येक का व्यक्तित्व यदि भारत में समाजायगा तो भारत की एकता का अवश्य नाश होगा । आज यह हम देख रहे हैं कि भारत का तरुण, एक समूह, एक नेता वर्ग अपने में भारतीयता देखने के स्थान पर अपना व्यक्तित्व भारत में देखना चाहता है ।

यह भारत के सौत की, पराधीनता को लकड़े रहने की निशानी है। राम राज्य में भी सीता के साथ न्याय हुआ था क्या ? क्या आप सोचते हैं कि भगवान मर्यादा पुरुषोत्तम राम ने, सीता को, नारी को सम्मान की दृष्टि से देखनेवाले राम ने, लनता की आवाज पर सीता को, एक व्यक्ति को दुःख देना, उसके प्रति अन्याय करना, अपने हृदय पर वज्राधात करना न सह लिया ? तब हमें भारतीय स्वतंत्रता के कारण न केवल वर्तमान में किन्तु भविष्य में भी अपने पृथक व्यक्ति को दबाना पड़ेगा, कुचलना पड़ेगा और आवश्यकता हुई तो मृत्यु के घाट उतारना पड़ेगा। भारत जियेगा। भारत अमर रहेगा। भारत नहीं मर सकता। हम तो मर-मर कर जीवित होंगे। तब हमें क्या करना चाहिये ? हमें अपनी ओर देखना चाहिये अथवा भारत की ओर यही प्रश्न हमारे समक्ष गंभीर होकर विचारार्थ उपस्थित रहा है।

‘प्रसाद’ के नाटकों में इस समस्या को इतिहास के आधार पर उठाया गया है। इसी के आधार पर आदर्श और हल रखा गया है। अंतर्विद्वोहों का प्रभाव राज्य पर क्या पड़ता था ? धार्मिक उन्माद, व्यक्तिगत स्वार्थ, भारत की आदर्श-अहणता, न्याय प्रियता का क्य कैसा परिणाम निकलता था, भारत विजयी होते हुए भी क्यों पराजित होता था ? उसकी सज्जनता, उसकी विरक्ति उसकी वीरता का क्व और कैसा प्रयोग होता था ? भारत में विवसार से लेकर हर्ष तक लगभग १२०० वर्ष तक, जब भारत अपने ही कार्यों का, भविष्य का नियामक और सृष्टि था तब वह क्या करता था ? इसका समुचित दिग्दर्शन “प्रसाद” के नाटकों में मिलता है।

भारत का ऐतिहासिक काल उस स्वर्ण युग से प्रारंभ होता है जब अहिंसा की प्रचारिका, विश्व वंद्य दो महाविभूतिएँ विश्व-कल्याण के लिये अवतरित हुई थीं। महावीर और गौतमबुद्ध के जीवन और तरसंवंधी

सुनित साहित्य इतिहास की गुरुत्यों को सुलभा ने मैं बहुत दूर तक समर्थ हुआ है। इन्हीं के समय के राजा विवार अथवा श्रेणिक से हर्ष तक का लगभग १२०० वर्षों का काल वह ऐतिहासिक शुद्ध भारतीय काल है जिसका गौरव, जिसकी संस्कृति का अभिमान, जिसके साहित्य का श्रेय, जिसके इतिहास की श्रेष्ठता स्वर्तंत्र भारत, वास्तविक भारत की निति की देन है। इसके बाद का काल भारतीय एवं मुसलिम युग का संधिकाल था जो लगभग बारहवीं शताब्दी, ६०० वर्षों तक रहा था। यह पूर्व भारतीय राज्य-सत्ता के हास-उद्दय, विजय-पराजय, संघर्षमय वातावरण में अपनी स्थिति काथम रखने का युग है और जिस युग से भारत की अपनी देन दिनोंदिन ज्योर होने लगती है। मुसलिम युग में भारत से हिन्दुस्थान बनने का उपक्रम आरंभ हुआ और आज वह बनता हुआ दृष्टिगोचर होने लगा है। मुसलिम काल के प्रारंभ से अब तक का भारत पूर्ण पराधीनता और पराधीनताजन्य अभिशापों का इतिहास है।

'प्रसाद' ने पूर्व-मुसलिम युग को ही अपनी प्रतिभा और कल्पना का ज्येन्न बनाया है। इस युग को वौद्ध-काल भी कहा जा सकता है क्योंकि गौतमचुद्ध द्वारा प्रचारित वौद्ध-धर्म का पूर्व मुस्लिम युग में प्रसाद प्रकाश, विकास, चरम सीमा-प्राप्ति, हास और की वृत्तियों के रमन का उन्मुक्तन भी इसी काल में हुआ। गौतम से कारण-भारत के गौरवमय प्रारम्भ कर शंकर तक इसकी सीमा निश्चित अवृत्ति से प्रेम की जा सकती है। वौद्ध-धर्म के प्रभाव की दृष्टि से भी इस काल का यह नाम असंगत नहीं। प्रसादजी की वृत्तिएँ इसी काल के अनुशीलन में रही हैं। इस काल का साहित्य भी प्रचुर मात्रा में प्राप्त होता है, जो यद्यपि अपने-अपने धर्मों, सिद्धांतों की पुष्टि के लिये लिखा गया था तथापि उसमें प्रचुर

ऐतिहासिक सामग्री, उस युग के न केवल राज्य-परिवारों का वर्णन कितु जनसाधारण की स्थितियों का, दशा का भी पृष्ठ वर्णन मिलता है। तत्कालीन जन-समूह की भावना भी मिलती है। प्रसाद ने इस युग के साहित्य का पर्याप्त अध्ययन किया है। वह सर्व समत इतिहासाधारों एवं स्वाध्ययन पर अवलंबित है। इसीलिये वे इतिहास का साहित्य से समुचित सामंजस्य स्थापित कर सके हैं। इसलिए उनकी कृतियों में, विशेषकर नाट्य-कृतियों में ऐतिहासिकता, दारानिकता, कल्पना और काव्यत्व कूट-कूट कर भरा हुआ है। उनकी रचनाओं में न केवल इमारी गौरवमय स्थिति, सधर्पमय जीवन, इमारी स्वतंत्र उद्भ-भावना शक्ति का परिचय, घटनाओं को इमारे अनुकूल चलाने की प्रतिक्रिया, राष्ट्रों को सूजन, विनष्ट करने, उनके पोषण, रक्षण, व्यवस्थित करने की व्यवस्था मिलती है किंतु भारत के भविष्य का पथ-प्रदर्शन, नियंत्रण और आदर्श भी मिलते हैं। उनकी कृतियों में इसलिये इतिहास है, साहित्य है, अमरत्व है।

‘नन्मेयज्ञ का नाग यज्ञ’ में इसने देखा था कि नाग-यज्ञ के पश्चात् जनमेयज्ञ ने—भारत ने—आशा की थी कि अब ‘बालक सृष्टि’ अपना खेल कर चुकी है। यज्ञों का, पुरोहितों के ‘भारत एक और अखट एकाधिवक्त्य का जमाना चला गया है और यज्ञों है’ की भावना का की वाद, पशु-गतिशानों की भारमार ने विश्वात्मा ‘प्रसाद’ में प्रान्तुर्य को, मानवामा को आई दिया है। वास्तुणों में से ब्राह्मणत्व, तपस्या, स्वार्थ स्याग, परार्थ सर्व-स्वाहुति, परहित-चिन्ता, विश्व के लिये अध्ययन-अध्यापन एवं चितन के लिये तिल-तिल गलने और जलने की भावना का लोप हो चुका है और इनका स्थान-ग्रहण कर लिया था अभिमान ने, अर्थ लोलुपता ने, अइमन्यता ने, पाखंड ने, दुर्भावना ने। भारत से जैसे सच्चा तप

और त्याग निकल चुका था । भगवान राम का श्राद्धर्ष और, के कई कृष्ण की सर्व-भूत-हिंत-रक्षण-कामना का लोप होने लगा था । जीरक जय के पश्चात् का प्रागेतिहासिक काल अच्यवस्था का काल था । विश्वात्मा, जगद्विद्यंता को यह सब नहीं हो सकता था ॥१॥ फलतः इसी समय एक महाकाँति भारत में हुई । महावीर और बुद्ध के अवतार हुए । इन्होंने परपीडन, हिंसा, पाखण्ड, अहमन्यता, यज्ञों में पशुवत्ति पर एक जबरदस्त अगला लगा दी और तब इसके बाद भारत में युग-युग से परानित, दबी हुई करुणा, जाग्रत हो गई, व्यापक हो गई । न केवल मानव-प्राणी ने किन्तु समस्त प्राणी-जगत ने सुख और शांति की स्वाँस ली । कहणा ने १२०० वर्षों तक भारत में प्राण संचार किया किन्तु विरक्ति और संघर्ष भी घैदा किये । इन्हीं का चित्रांकण हमें प्रसाद के 'अनातशन्', 'चन्द्रगुप्त', 'विशाख', 'र्क्षदगुप्त', 'विक्रमादित्य' और 'राज्य श्री' में मिलता है । इसी ऐतिहासिक काल में हमें भारतीयता की उत्पत्ति, उसकी संस्कृति का प्रौढ़तम रूप, उस संस्कृति का यूनानी संस्कृति से समन्वय देखने को मिलता है । इसी समय विदेशी आकमणों और उनकी भीषणताओं का परिचय बौद्ध धर्म की रक्षा के प्रयत्न, वैदिक धर्म की पुनः स्थापना के विचार और उसके लिए विराट् प्रयत्नों और संघर्षों का प्रादुर्भाव देखने को मिलता है । इसी समय राज-परिवारों और राजनीति को इन्हीं का खिलवाद दोते हुये हम देखते हैं । प्रसाद इसी युग के चित्रांकण में हमें हमारी आज की भारत की मौलिक कमज़ोरियों का, उन्हें दूर करने का, भारत की 'एक और अखंड' होने की दृमता का दिंदर्शन भली-भाँति कराते हैं । इस समय के प्रचुर साहित्य को हृदयंगम कर, अपनी प्रतिभा में निचोड़ कर 'प्रसाद' ने इतिहास को साहित्यिक सुन्दर रूप दिया है । उस युग को साकार, दृश्य, अमर और प्राणों का संचार करनेवाला बनाया है ।

प्रेतिदासिक
कितु

कोशल, कौशांवी और मगध के राज-परिवारों के कथानक हैं। इन्हीं के साथ महात्मा बुद्ध के चरित्र एवं प्रभाव तथा उनके पक्ष व विपक्ष के लिये राज-परिवारों 'अजातशत्रु' के आश्रय लेने का चिन्नांकण भी गौण रूप में हो गया है। महात्मा बुद्ध के पछिले लो हिंसात्मक प्रवृत्ति जन साधारण में एवं राज-परिवार में पायी जाती थी उसका दिग्दर्शन हमें 'अजातशत्रु' के पाल चरित्र में छलना के उसके शिक्षण के समय और वासवी, पद्माघती और विवसार के कथनों में मिलता है।

'अजातशत्रु' अपने चित्रक (सिंह-शावक) के लिए मृग-शावक धुतवाता है। निरीह मृग छौंते का मारा जाना, तदफना शायद उसे प्रसन्नता से भर देता हो। कुणीक का प्रारंभिक चरित्र बौद्ध ग्रंथों में बड़ी ही दृष्टि के रूप में अंकित किया गया है। यहाँ भी उसका प्रारंभिक चरित्र हसीं रूप में प्रसाद ने रखा है। जान दृम्भकर हस प्रकार की हिंसा के भाव संतान में, राजकुमारों में उस समय भरे जाते थे। शायद हसीलिये कि उस समय की विचार-प्रणाली यही हो कि किसी राजहुमार "का हृदय छोटी-छोटी बातों में तोड़ देना, उसे डरा देना, उसकी मानसिक उच्चति में वाधा देना है।" "निर्वल हाथों से भी क्या कोहूँ राजदंड अहण कर सकता है।" और तब अहिंसा "केवल मिलुकों की भद्दा सीख थी।" "नो राजा होगा, जिसे शासन करना होगा, उसे मिल भंगों का पाठ नहीं पढ़ाया जाता। राजा का परम धर्म है न्याय, वह दंड के आधार पर है।" राजकुमार अजातशत्रु की क्रूरता उस समय के राजकुमारों की क्रूरता थी। छलना के उपर्युक्त विचार उस काज की राज सत्ता के विचार थे।

किंतु महात्मा गौतम का प्रभाव भी उस समय तक राज परिवारों तक फैल गया था। उन्होंने जो मानवी करुणा का उपदेश दिया था वह

इतना व्यापक हो गया था कि उसके आदेश पर उस समय, के कई राजाओं और राजकुमारों ने राज्य-व्याप दिये थे । वे, संसार से विरक्त होने लगे थे । राज्य उनके लिए एक वोक्ता था और यह परिस्थिति हर्ष, तक रही । इस कल्पणा का प्रभाव उन समूह में भी इतना व्यापक और गहरा हो गया था कि शायद इसी कारण भारत निस्साध, कूर शनु की शनुता का सामना करने के लिये असमर्थ हो गया था । एक चीज, एक सिद्धांत, प्राणी, मानव की भलाई के लिये स्थापित किया जाता है, समय पाकर उसमें भी विकृति पैदा हो जाती है और वह हानिप्रद हो जाता है । गौतम की विचार-धारा का सारांश है, पद्मावती के निम्न कथन में कि “मानवी सृष्टि कल्पणा के लिये है ।” “मेरी समझ में तो मनुष्य होना, राजा होने से अधिक है” और विवसार के इस कथन में कि “जीवन की कल्पणा भंगुरता देखकर भी मानव कितनी गहरी नींव देना चाहता है ।”

एक और अज्ञातशनु, छुलना, देवदत्त तथा दूसरी और विवसार, चांसवी और गौतम हैं । एक और पूर्व भारत है और दूसरी और गौतम के पश्चात का भारत । एक और हिंसा और क्रूरता, छुल और पाखंड हैं तो दूसरी और अहिंसा, कल्पणा, सत्य और कर्तव्य हैं । इन्हीं असद और सद् प्रवृत्तियों का हन्दा, कौशल, कौशंवी और मगध के राज-परिवारों के ग्रह-विग्रह में भी हमें देखने को मिलता है ।

छुलना अपने पुत्र अज्ञातशनु के लिये मगध का सिंहासन सुरक्षित करना चाहती है । इसलिये वह न केवल महादेवी वासवी एवं उसकी बड़ी पुत्री पद्मावती को ही रुप कर देती है किन्तु अपने पति मगध-राज विवसार को भी रुप और राज्य से विरक्त कर देती है । गौतम का प्रतिद्वन्द्वी देवदत्त छुलना को उत्तेजित करता है और महात्मा गौतम के उप-देशों का प्रभाव वासवी, विभवसार और पद्मावती को आकर्षित करता है ।

महाराज विवसार राज्य स्थाग पर अलग हो जाते हैं। अजातशत्रु तिष्ठासनासीन होता है। वासवी उनसे काशी का राज्य-कर प्राप्त करनाने की सम्मति देकर उन्हें संतुष्ट फरती है। क्योंकि उस पर उसके पिता का दिया हुआ होने के कारण उसका अधिकार था। काशी की प्रजा के नाम से वाशी फा कर अजातशत्रु को न देकर विवसार को दिया जाय इस शाश्वत का पत्र लिखा जाता है। किंतु दूसरी यार युद्ध में अजातशत्रु प्रसेनजित के द्वारा घंटी कर लिया जाता है। छलना को एक डेस सी लगती है किंतु वासवी के प्रश्न से अजातशत्रु मुक्त किया जाता है और उसका विवाह प्रसेनजित की बन्धा वाजिरा से हो जाता है। वासवी और छलना में पुनः स्नेह भाव हो जाता है। छलना जैसे संभल जाती है। वह वासवी की सज्जनता, स्नेह को पहिचान लेती है। अजातशत्रु भी बाद में पुत्रोत्पत्ति पर पितृ-प्रेम फा अनुभव कर विवसार से मिलता है किंतु वह उसी समय मर जाता है।

इसी कथा के साथ गौतम के विस्तृद्व देवदत्त का प्रचार और पद्यग्र चला करता है। इसमें गौतम की करुणा, सत्य एवं प्रेम की चिन्तय और देवदत्त के कपट और भूठे प्रचार की पराजय होती है। कोशल और कौशांघी के दो गृह-कलह भी इसी में समिलित हैं। प्रसेनजित का पुत्र विश्वक भी अपने पिता का विरोध करता है। शायद अजातशत्रु के आदर्श पर किन्तु इसमें प्रसेनजित का ही दोष और विश्वक का नम्र विरोध दिखाई देता है। अजातशत्रु का उदाहरण उसके समज न होता तो शायद उसके विरोध की आवश्यकता नहीं पड़ती। दासी पुत्र होने के कारण उसके पिता फा उसके प्रति क़ुद्द होना असंगत था। उस समय की स्थिति के कारण उसकी माता के परिवार के प्रति उसका कृपित होना उचित था। ऊँच नीच के ये भाव महात्मा गौतम के पहिले बहुत अधिक रूप में प्रचलित थे। इसी प्रकार छियों के हीन

भाव भी। महात्मा बुद्ध ने हनका घड़े लोरों से विरोध किया था। इसके फल स्वरूप निम्न कोटि के व्यक्तियों और बाद में छियों के प्रति इस भाव का एक घड़े अंश में उत्मूलन होगया था। इसी का प्रदर्शन इसके उपकथानक में प्रसादजी ने महात्मा बुद्ध के कहने पर प्रसेनजित द्वारा दासी पुत्र विश्वको राज्य के योग्य समझ कर युवं राज्य दिलवाकर, किया है।

इस प्रकार कौशलंगी में भी एक छोटा सा गृह-कलह चलता है। पद्मावती युवं उदयन पर महात्मा बुद्ध के उपदेशों का फाफी प्रभाव पहा था, किंतु मांगंधी उदयन की तांसरी और नवीन रानी यह सहन नहीं कर सकता थी क्योंकि वह अथ उदयन के द्वारा भुलाई जा रही थी। उसने वीणा में सर्प का वच्चा खकर और उसका आरोप पद्मावती पर करवाकर उसकी ओर से उदयन का चित फिला दिया था। बाद में सच्ची घटना का पता लग जाने पर मांगंधी महल में आग लगा कर निकल भागी। सब ने समझा कि मांगंधी उसी में जल भरो। मांगंधी पहिले गौतम से प्रेम करता था। किन्तु वह गौतम को आकर्षित नहीं कर सकी थी और इपलिये उनके बेरुद हो गया था।

वास्तव में 'अजातशत्रु' में छोटे-छोटे कई फथानक समिलित हो गये हैं जिनका संदर्भ मूल फथानक से होते हुए भा वे स्वतंत्र से लगते हैं और स्वतंत्र नाटकों के कथानक होने के योग्य थे। किन्तु 'प्रसाद' के एक ही समय के अध्ययन ने उन्हें एक ही सत्र में पिरा देंगा है।

चन्द्रगुप्त मौर्य ऐतिहासिक काल का सबसे पहला सम्राज्य था। इसके पहिले, (चूँकि भारत एक विशाल देश है, इस का छाइ कर यूगेप महाद्वीप के बराबर है और जो मनुष्य-भारत का अमर-आदर्श संख्या की दृष्टि से भी उस समय अवश्य घना रहा — 'चन्द्रगुप्त' होगा) भारत में अनेक छोटे-बड़े राज्य थे। उनकी पृथक्-पृथक् सत्ता थी। वे अपने-अपने राज्यों में

स्वतंत्र थे। इस समय तक विशेष कर भारत के मोटे रूप से दो ही भाग किये जा सकते थे; उत्तरापथ और दक्षिणापथ। उत्तरापथ में तो आर्य राज्य थे ही किंतु दक्षिणापथ में भी आर्य राज्य थे और राम के दक्षिणापथ में गमन और विनय के पश्चात् तो उत्तरापथ में केवल नाम या भेद का ही भैंद था। वास्तव में भारत एक और अखंड हो गया था। धर्म संस्कृति, रीति-च्यवदार आदि में यहाँ तक कि भाषा में भी वह एक ही हो रहा था जैसा कि दक्षिण भारत की भाषाओं में संस्कृत शब्दों के मिलने से ज्ञात होता है। इस एकीकरण की भावना का प्रकटीकरण तब होता था जब कोई शक्तिशाली सम्राट् चक्रवर्जित्व प्राप्त करना चाहता था अथवा साम्राज्य स्थापित करना चाहता था। उस समय चक्रवर्जित्व अर्थवा साम्राज्यवाद का अर्थ आज के इन्हीं शब्दों के अर्थ से भिन्न था। तब शोषण के लिये, भूमि के लिए साम्राज्य स्थापित नहीं किये जाते थे। उस समय साम्राज्य का अर्थ एक सार्वभौम सत्ता का ही अर्थ रखता था। जिसमें सम्मान या वडप्पन का ही आदर्ग एवं ध्यान रखा जाता था। मांडलिक राज्य प्रायः अपने हेत्र में स्वतंत्र और मिश ही रहते थे। अथवा स्वकन्या का पाणिश्राहण करवा कर संवधी बन जाते थे। उस समय भी साम्राज्य बनते, विगड़ते, फिर बढ़ते रहते थे। कभी किसी वंश का प्रभुत्व हो जाता और कभी किसी वंश का। राजाओं का पारस्परिक एवं गृह-कलह के कारण ही ये सब परिवर्तन हुआ करते थे। जन समूह पर इनका विशेष प्रभाव नहीं पड़ता था। इसलिये वह प्रायः सुखी, स्वतंत्र ही रहता था। हाँ मत, सिद्धांत अथवा धर्म-भेद के कारण अवश्य उसमें विवाद व झगड़े हुआ करते थे। इस समय तक आये लोगों को समस्त देश में वसे हुए इन्हाँ वर्षे हो गये थे। वेद, रामायण एवं महाभारत की घटनाएँ हो चुकी थीं। अब वाह्य आक्रमण का डर किसी प्रकार का न था। आर्य और अनार्य अब मिल कर

भारतीय हो चुके थे इसलिये अपने महादेश में, अपने घेरे ही में, अपना प्रभुत्व कायम रखते थे। इसके बाहर का संघंघ केवल व्यापारिक था। वे धर्म और संस्कृति भी अपने साथ बाहर ले जाया करते और उनके चिह्न छोड़ आया करते थे। इस समय तक गांधार (सीमा प्रान्त) एवं अफगानिस्तान भी प्रायः भारत की सीमा में समिलित समझ लिये जाते थे। किंतु सिकन्दर के आक्रमण से भारत में एक नवीन युग का प्रारम्भ होता है।

सिकन्दर के आक्रमण से पाश्चात्य देशों और भारत में सांस्कृतिक, व्यापारिक आदान-प्रदान तो प्रारम्भ हुआ ही किंतु जो भारत अब तक पाश्चात्य बाह्य आक्रमणों से मुक्त था उसका द्वार पाश्चात्यों के लिये खुल गया। अब तक शायद वे लोग भारत पर आक्रमण करना भूले हुए थे। विभिन्न छोटे-छोटे समूहों में बैटे होने के कारण भारत सदृश, व्यवस्थित, शक्तिशाली, संपन्न महादेश पर आक्रमण करने का उनमें साइस नहीं होगा किंतु सिकन्दर ने इन्हीं छोटे-छोटे समूहों को एकत्रित कर—संघटित कर एक विशाल धाहिनी तैयार करली थी। इन्हीं समूहों की सेना से उसने मेसोडोनिया से भारत के पश्चिमी भाग तक के देशों को विजित, शाकांत, पद-दलित कर अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया था। इन्हीं समूहों को संघटित करने के कारण ही सिकन्दर विजयी, महान् था। सेल्यूक्स निकेटार भी सिकन्दर के साथ आया था। उसका एक सेनापति था। सिकन्दर के पश्चात् उसकी जीभ भी भारत पर आक्रमण करने के लिये लप-लपाई। इससे ज्ञात होता है कि सिकन्दर के आक्रमण का एक प्रभाव यह भी पड़ा कि अब से उस ओर के समूहों को एकत्रित कर भारत पर आक्रमण करने का उनका हौसला हो गया। वे लोग सिकन्दर के आक्रमण से उसकी विजय और सफलता से यह जान गये थे कि भारत पर किस

प्रशार और कैसे आकमण किया जा सकता है। सांस्कृतिक, कला संवंधी ज्ञान-विज्ञानादिक का यूनान का भारत पर अथवा भारन का यूनान अथवा पाश्चात्य देशों पर कितना प्रभाव पड़ा हसको मैं अधिक महत्व नहीं देता। यदि हम सूष्म-र्धि से हमठे याद के भारत के ऐतिहास का अध्ययन करते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि सिकन्दर की विजय ही के कारण याद में भारत आकांत होता रहा। शक, हृण सद्दा वर्यर-लातियों ने उचित संघटन, स्वार्थपूर्ण आकांच्छाओं के साथ भी भारत सद्दा सभ्य, विशाल, शक्ति-धन-संपद, राजनैतिक चालों से परिचित देश को बार-बार हराया, पद्दतित किया। यही यात सुरिज्जम आकमणों के संवंध में भी कही जा सकती है। पहिले के संवंध में भारत उन्हें सब प्रकार से शक्ति-संपन्न होने के कारण आत्मसात् कर सका। देशदीन लातियों को देश में स्थान दे सका।

कहने का आशय यह कि हजारों वर्षों से पाश्चात्य आकमणों से मुक्त भारत के द्वारा खट-खटाने, उन्हें खोलने का उपक्रम यदि किसी ने किया तो सबसे पहिली बार सिकन्दर ने। हमारी कमजोरियों के बीजां-कुर हसी महत्व को, उन परिस्थितियों को समझने में हैं। यद्यपि यह सत्य है कि सिकन्दर को भारत में स्वती विजय नहीं मिली। भारत का एक छोट-सा राजा भी उसकी विजय में बाधक हुआ। उसके छुक्के छुड़ा दिये। लौटते समय मालव और छुद मों की सेना ने सिकन्दर को खूब तंग किया। यह सब ऐतिहासिक सत्य है। विजया सेल्यूक्य पराजित हुआ। अपनी कल्या का पाणिग्रहण उसे चन्द्रगुप्त से करना पड़ा। यह भी ऐतिहासिक सत्य है। तब उस गौरवमय हमारी भारतीय इतिहास का हमें पता लगाना, हमारी विजय और पराजय के कारणों को दूँड़ना हमारा कर्तव्य हो जाता है। आज की भारत की पत्थनियां, कांग्रेस के प्रति कतिपय स्वार्थ और समाज-प्रिय व्यक्तियों का विद्रोह हमें उन और

इन परिस्थितियों पर विचार करने के लिये, हमारी कमलोरियों का अध्ययन करने के लिये बाध्य करता है। भारत का गौरव कैसे बढ़ सकता है, भारत कैसे सुक्त हो सकता है, इन तथ्यों को खोजने का मसाला मिलता है। प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' और 'स्फन्दगुप्त' इस और भारतीय दृष्टि से दो धर्मर कृनियाँ हैं जो भारतमय हैं और जिन्हें भारत में व्यापक होता है। तद्दणों के समक्ष जाना है। सदा अनवरत रूप से उन्हें कर्तव्य सुझाते रहता है।

वह राम के उच्चतम आदर्श और कृष्ण के महान व्यक्तित्व और राजनीतिपूर्ण मेधा का समय नहीं था। यह तो वह समय था जब महात्मा गौतम की करुणा विरक्ति और निष्पृहता भारत में स्थान कर रही थी। ऐसे समय में भी वीर चन्द्रगुप्त की श्लौकिक वीरता, कार्य-चमता और मेधावी, धुरंधर राजनीतिज्ञ और अर्थे शास्त्री चाणक्य की प्रत्रंध कुशलता, संघटन-शक्ति भविष्य-संचालन शक्ति और नियति को वशीमृत कर मनोनुकूल चलाने की चेष्टा विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। "चन्द्रगुप्त" नाटक का प्रारंभ, निर्वाद और अन्त भारत के गौरव-योग्य हुआ है।

भारत के एक राष्ट्र और उन्नति पथगामी होने के लिये जिस आदर्श की आवश्यकता है, विस प्रकार की राष्ट्रीय भावना और राजनीति भारत के लिये अनिवार्य है उसका बीज 'चन्द्रगुप्त' के प्रथम श्रंक के प्रथम दृश्य में देखने को मिल जाता है और बाद का कथानक इस बीज का वृक्ष-विस्तार है। इसी दृश्य के प्रारंभ में चाणक्य और सिंहरण की बात-चीत उक्त आदर्श को लेकर होती है। चार्तालाप के सिलसिले में ही सिंहरण; चाणक्य से कह देता है, "आर्य, मालवों को अर्थशास्त्र की उत्तमी आवश्यकता नहीं जितनी अद्य-शास्त्र की।" "मुझे तत्त्वशिक्षा की राजनीति पर दृष्टि रखने की आज्ञा मिली है।" बास्तव में उस

समय तत्त्वशिला गांधार की राजधानी एवं केंद्र थी। वह भारत का खुला द्वार थी जिसकी रक्षा पर भारत का भविष्य निर्भर था। तत्त्वशिला की राजनीति पर इसी रखना अनिवार्य था। उस समय साधारण अवस्था नहीं थी। यवनों के दूत गांधार में आ रहे थे। “आर्यावर्त का भविष्य लिखने के लिये प्रतारणा की लेखनी और मसी प्रस्तुत हो रही थी।” “उत्तरापथ के खंड राज्य द्वेष से जर्नर थे”। “शीघ्र ही भयानक विस्फोट” होने वाला था। गांधार कुमार आमीक पौरव से द्वेष के कारण एवं यवनों से धन एवं अधिकार प्राप्ति के कारण भारत के उन्मुक्त द्वार में से यवनों को निकल जाने देने के लिए प्रस्तुत था। इस धन और पारस्परिक द्वेष ने विशेष कर पिछले ने भारत का सदा अपकार ही किया है। आज भी प्रांतीयता ने अपना सिर फिर उठाना आरंभ कर दिया है। स्वाधीनता में यह सभ्य भी हो जाती है, सह भी हो सकती है किन्तु पराधीनता के दूषित वातावरण में हमें अपने इतिहास और साहित्य से शिक्षा ग्रहण करना चाहिये। इसीलिये चन्द्रगुप्त और सिंहरण मांगध और मालव कहकर गौरव प्रकट करना चाहते हैं। मिश्रता प्रकट करना चाहते हैं, तथा चाणक्य उन्हें प्रबोध देता है, “तुम मालव और यह मांगध यहीं तुम्हारे मान का अवसान है न? परन्तु आर्यम समान इतने ही से संतुष्ट नहीं होगा। मालव और मांगध को भूलकर जब तुम आर्यावर्त का नाम लोगे तभी वह मिलेगा।” आगे इसी दृश्य में अंलका और सिंहरण की बातचीत में इन्हीं आदर्श पर जाते हुए वे (सध पांच) दिखाई देते हैं। मालव सिंहरण गांधार को भी अपना देश समझता है। गांधार कुमारी अजका भी अपने को आर्यावर्त की बालिका ही समझती है। इसी का विकास समस्त नाटक में किया गया है।

चाणक्य के प्रयत्न प्रारंभ से ही भारत को एक अखंड राष्ट्र मानकर होते हैं। भारत की नियति को या कहना चाहिये उसकी आन्तरिक

कमजोरियों को चालक्य समझता था। वह यह भी जानता था कि भारत जो वास्तव में एक ही राष्ट्र आंतरिक दृष्टि से है इसमें इतनी भिन्नता वर्षों हैं कि उसका क्या कारण है? वह कैसे दूर की जा सकती है? उसका अनुभव, उसकी समय की तर्हों में से प्रवैश करनेवाली पैनी बुद्धि खूँ। यह जानती थी कि भारत को केवल एक सुशासन की ही आवश्यकता नहीं थी किंतु एक सुदृढ़ शासन की भी आवश्यकता थी और इसीलिये उसके मध्य प्रयत्न इसी एक महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिये हुए। वह चन्द्रगुप्त का राज्य उसकी सूचम दृष्टि के कारण इतना सुदृढ़ कर सका कि मौर्यवंश के अधिकार में चन्द्रगुप्त के पश्चात् भी लगभग १००० वर्षों तक राज्यसत्ता बनी रही। हाँ साम्राज्यवादिता का जो अर्थ आज हम करते हैं साम्राज्य स्थापित करके भी वह उससे दूर और निष्पृह रहा। वह यह जानता था कि यवन तो केवल एक संघटन या गुट बना लेने से ही साम्राज्य बना रहे हैं। सफलता प्राप्त कर रहे हैं और सुसभ्य, सुसंस्कृत, ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल में दक्ष, राम और कृष्ण की जन्म सूमि के निवासी, गोता ज्ञान से मार्जित, महाभारत सदा राजनीतिक वारीकियों से भरे हुए ग्रंथ के स्वामी उस समय पारस्परिक द्वेष से जर्जरित हो, रहे थे। राष्ट्र का ध्यान छोड़कर व्यक्तियों और व्यक्तिगत स्वार्थों सिद्धांतों को महत्व दे रहे थे। स्वमानापमान को सर्वोपरि समझ रहे थे। २० वर्षों से कांग्रेस के सतत् प्रयत्नों के पश्चात् फिर देश में भी इन्हीं व्यक्तित्वों का महत्व अकारण बढ़ा रहा है। राष्ट्र के लिये, भारत के लिये प्रांतों को कुकना चाहिये, प्रांतों के लिये जिलों को, व्यक्तियों को दबना चाहिये। शासक चाहे जितना निष्पक्ष, अव्वाला, न्यायी ही क्यों न हो, निष्कपट-शासन योग्यता संपन्न ही क्यों न हो, कुछ व्यक्ति ऐसे रह ही जाते हैं जिन्हें किसी न किसी प्रकार की शिकायत रहती है फिर शासक चाहे वे हीं शिकायत करनेवाले क्यों न रहे हों। तब

हमें राष्ट्र को ही क्यों न सुट्ट बनाना चाहिये और हमें भारत राष्ट्र की स्वतंत्रता, सुशासन, उम्मति, गौरव के लिये, विश्व बन्धुत्व के लिये, मारत के केंद्रीय शासन को सुट्ट बनाना होगा चाहे व्यक्तिगत स्वार्थों को, प्रान्तों को झुकना ही क्यों न पड़े । प्रसाद ने हमारे उस गौरव-शाली इतिहास का नव भारत स्वतंत्र था, नियामक था, घटनाओं को दृच्छानुकूल चलाने में समर्थ था, स्वतंत्रहृषि से संधि और युद्ध करता था, अपने भाग्याभाग्य का स्वर्य निर्णायक था अध्ययन कर हमारे समक्ष हमारा भवित्व, भारत का भवित्व बड़े ही उच्चत्व रूपमें चिन्तन के साथ रखा है ।

उन्होंने चंद्रगुप्त में घटनाओं का ग्राम्य भी ऐसे ही महत्वपूर्ण समय और स्थिति को लेकर किया है । प्रथम दश्य के पश्चात् ही इस चाणक्य को मगध पहुँच कर यही प्रयत्न करते देखते हैं । प्रजानविरोधी विलासी नंद को वह तत्कालीन परिस्थिति से भारत पर सिकंदर के होनेवाले आक्रमण से भारत की रक्षा के लिये उद्यत करना चाहता है । वह चाहता है मगध पर्वतेश्वर से मिल कर सिकंदर का अवरोध करे । अपने घर में मले ही चाहे लड़ लें किंतु विदेशी के सामने हमें एक हैं । पाश्चात्य यूरोपीय राष्ट्रों ने इसी तत्व को अपना कर संसार पर अपनी अभुता स्थापित कर ली है । गोरी और अगोरी जातियों के संबंध में भी ये गोरी जातियें मिल जाती हैं । ऐसा उस समय भी हुआ था । चाणक्य ने इसीलिये मगध से पर्वतेश्वर की सहायता, द्वे-प-भाव उस समय तो त्याग कर, करने को बहा । उसने नंद को मगध का कर्तव्य सुझाया था कि“ यवनों की विकट वाहनी निपथ पर्वतमाला तक पहुँच गर्व है । तत्त्वशिक्षाधीश की भी उसमें अभिसंधि है । संभवतः समस्त आर्यावर्त पादाकात होगा । उत्तरापथ में बहुत से छोटे-छोटे गणतंत्र हैं, वे उस समिक्षित पारसीक यवन बल को रोकने में असमर्थ होंगे । अकेले पर्व-

तेश्वर ने साहस किया है, इसलिये मगध को पर्वतेश्वर की सहायता करना चाहिये ।” उसने पर्वतेश्वर को समझाया था कि पहिले यदि तुम मगध विजय करने में चन्द्रगुप्त की सहायता करो तो मगध की लज्जाधिक सेना आगामी यवन युद्ध में पौरव पर्वतेश्वर की पताका के नीचे युद्ध करेगी । किंतु उसने ध्यान नहीं दिया और उसे पर्वतेश्वर को निराश होकर चेतावनी देनी पड़ी । “स्मरण रखना आसन्न यवन युद्ध में शोर्य गर्व से तुम पराभूत होगे । यवनों के द्वारा समस्त आर्यवर्त पादाक्रांत होगा ।”

चाणक्य ने एक बार पुनः प्रयत्न किया कि पर्वतेश्वर उसकी सम्मति से लाभ उठावे । उसने चन्द्रगुप्त के साथ उसे संपेत बना कर पर्वतेश्वर को समझाया कि सैन्य-संचालन किस प्रकार करना चाहिये । किंतु भारत में तो शायद यही होता आया है । उसकी सम्मति की ओर फिर अवहेलना की गई । (तृतीय पानीपत युद्ध के समय भी महादजी सिंधिया की सम्मति की अवहेलना कर भारत पर महान् अपकार किया गया था) आखिर वही हुआ जो चाणक्य की सूक्ष्म अवलोकन शक्ति ने सोचा था । पर्वतेश्वर की हार हुई । सिकन्दर विजयी हुआ । उसके राजनीतिक कौशल से भारत में सिकंदर का दुर्दशा हुई । चन्द्रगुप्त सम्राट् हुआ । उसके शत्रुओं का हास हुआ । वह एक सुदृढ़ शासन स्थापित कर सका । चन्द्रगुप्त और सिंहरण का मैत्री-भाव भी भारत के लिये आदर्श रहा ।

‘विशाख’ का कथानक जिस समय का चित्रण करता है वह भारत का वह काल था जब सम्राट् अशोक बौद्ध-धर्म को न केवल भारत-व्यापी बना सके थे किंतु चीन, श्याम, लंका आदि सुदूर ‘विशाख’ देशों तक पहुँचा सके थे । सम्राट् अशोक ही प्रथम सम्राट् थे जिन्होंने बौद्ध-धर्म को पूर्णतया राज्याश्रय ही नहीं दिया

उसकी अप्रतिम, उन्नति, वृद्धि और प्रचार किया। इसके पहिले वह अन्य धर्मों के समान ही एक सिद्धांत, दाशनिकता की एक विशिष्ट विचार-धारा थी जिसके अनुयायियों की संख्या बढ़ गई थी। राजा, महाराजा जिसे अपना चुके थे और जन-साधारण में भी लो फैज़ तो अवश्य गया था किंतु मिटा नहीं था, पनप रहा था। बद रहा था किंतु व्यापक नहीं बना था।

शशोक के पश्चात् तो उत्तर से सुदूर दक्षिण तक, पश्चिम से पूर्व तक भारत वौद्धमय हो गया था। अब तक जब तक कि उसकी इतनी वृद्धि नहीं थी अन्य सिद्धांतों के समान उसके भी सिद्धांतों का विस्तृत विरोध नहीं हुआ था किंतु अब अत्यधिक वृद्धि और राज्याध्य के कारण उसके प्रति उसकी उन्नति, वृद्धि और प्रचार के प्रति एक प्रतिक्रिया भी भीतर-भीतर जाप्रत हो रही थी। विद्रेप और कटुता बढ़ गई थी। उसके विरोध, हास, उन्मूलन के लिये चेष्टाएँ प्रारम्भ हो गई थीं। और आगे जाकर उसका इतना प्रबल विरोध हुआ कि उसे अपने जन्म स्थान भारत से ही जोप होना पड़ा।

विभवसार चंद्रगुप्त आदि शशोक के प्रथम के समाट् अथवा राजांगण काफी उदार होते रहे क्योंकि इम देखते हैं कि उन्हें जैन, वौद्ध भी उनके सिद्धांतों से सहानुभूति होने के कारण अपनी ओर खींचते रहे हैं। वास्तव में उनका केवल एक राज-धर्म ही धर्म था। किंतु बाद के समाटों में—शशोक से लेकर हर्ष के पहिले तक उनमें किसी भी धर्म का एकांगीपन था। धर्म के बाह्य रूप की दृष्टि से यद्यपि वौद्ध निराशावाद अवश्य फैल गया था, वस गया था। हृदय और मस्तिष्क पर भी अपना अधिकार लगा चुका था। आगे इसीलिये वौद्ध-धर्म को अपनाने के कारण ही हर्ष को इतना साहस नहीं हुआ कि वह भारतीय धर्मों शैव या वैष्णव आदि का विरोध कर सके। उसके समय में ही यह विरोध

सीमा तक पहुँच गया था । उसके बाद शीघ्र ही शंकर ने सब उपायों से इसका उन्मूलन कर दिया । जैन, बौद्ध और इनका विरोधी साहित्य फिर एक विशिष्ट दार्शनिक विचार-धारा न होकर एक खंडन-मंडनाध्मक, प्रचारात्मक साहित्य हो गया और इस समय का साहित्य अपने मूल रूप में इसलिये उतना विश्वस्त नहीं है । वह चाहे किसी भी पक्ष का हो । किसी एक ही पक्ष को दोष देना न्याय संगत नहीं हो सकता ।

शशोक के पश्चात् एक बात और देखने को मिलती है । वह यह कि गुप्त सम्राटों तक यहाँ का शासन इड और व्यवस्थित नहीं रहा था यद्यपि हम कनिष्ठ, हुविष्ठ आदि सम्राटों को भारत के उत्तर में पृक्ष्यव्र शासनाधिकार प्राप्त किये हुए और शायद जनता में बौद्ध-धर्म के प्रचार होने के कारण बौद्ध-धर्म को अपनाते हुए देखते हैं । अतएव हमें 'विशाख' में इतिहास की दृष्टि से जोई विशेष बात देखने को नहीं मिलती । केवल उस समय के इतिहास के इतने अंश पर प्रकाश पड़ता है कि अथ बौद्धमठों की स्थापना और वृद्धि जगह-जगह हो गई थी । कई प्राचीन धर्म अथवा अन्य राजकीय स्थानों पर बौद्ध-महन्तों का अधिकार था । वे धन और प्रभुता के भोगी होकर संसार से विरक्त नहीं रहे थे । विलासी और राजनीति में यह या वह पक्ष ग्रहण करनेवाले हो चले थे । इसका चाणिक आभास 'चन्द्रगुप्त' में भी प्रसाद ने दिया है जब सुवासिनी राज्ञस से राज्यक्र में बौद्ध धर्म के समर्थन करने का धार्शवासन ले रही है । 'विशाख' में भी ऐसे ही एक बौद्ध-महन्त, एक विलासी पर स्त्री-गामी अधिष्ठिति और तरुणाई से आकर्षित एक युवक के प्रयत्नों को हम देखते हैं । भारत की उस दशा में ऐसे ही व्यक्ति तो पाये जा सकते थे ।

'स्कन्दगुप्त' इतिहास, राष्ट्रीयता और भारतीय भावना का प्रतीक है जिसमें 'गुप्तकाल', जो इतिहास में 'स्वर्ण-युग' के नाम से प्रसिद्ध है,

का प्रतिनिधित्व, गुप्तसम्राटों के भारत स्वातंत्र्य-रघुण भारतीयता का के प्रबल प्रयरनों का चित्रण है। उनकी आशा-निराशा, प्रतिनिधि-'स्कन्दगुप्त' उनके गुण दोष, उनके पराक्रम-पराजय, उनके संघटन और विघटन का यथात्थ मार्मिक चित्र है जिसमें हमें आज और आगे भी युगों तक हमारा आदर्श-पथ-प्रदर्शन और प्रेरणा मिलती रहेगी। पराधीनता में हमारे भाववया हों, कैसे हम युद्ध के समय पारस्परिक द्वेषों को भुजा देवें और स्वतंत्रता में अपने राष्ट्र की रक्षा किस प्रकार करें, किस प्रकार अपने सम्मान को सुरक्षित रखें, किस प्रकार गृह-कलहों, वैयक्तिक दोषों और स्वाधों तथा प्रातीयता की कहुता को नीचे, दूर रखें इष्टका विस्तार पूर्वक दिग्दर्शन हमें हमारे इस अमर राष्ट्रीय नाटक में मिलता है।

"स्कन्दगुप्त" की ऐतिहासिक परिस्थितियों पर एवं उसके द्वारा पहुँचे हुए निष्कर्षों पर जिनमें से भारत आज गुजर रहा है, सदा गुजरता रहा है और शायद भविष्य में भी गुजरता रहेगा। विचार करने के पूर्व न केवल इसी नाटक पर एवं प्रशाद के अन्य नाटकों पर भी विचार करने योग्य एक बात रह जाती है। वह यह कि नाटक-लेखक, कलाकार, कवि आदि इतिहास से किननी और कैसी सामग्री प्राप्त करें। कई आलोचकों का कहना है कि ऐतिहासिक घटनाओं का संकलन करते समय एवं पात्रों का चरित्र-चित्रण करते समय उन्हें बड़ा सतक और सावधान रहना चाहिये। यहाँ तक तो यह बात हमें मान्य है, शितु इससे बढ़कर जब वही आलोचक इतिहास के आधार पर किसी साहित्यिक रचना में खाल की खाल निकालना चाहना है या विवादा-स्पृद विषयों पर अपने अनुसार घटनाओं अथवा पात्रों का चित्रण किसी कलाकार में देखना चाहता है तब उसकी यह प्रवृत्तिन्याय संगत नहीं रही जा सकती। मैं इतना अवश्य मानता हूँ कि कोई लेखक यदि ऐतिहासिक

रचनाएँ लिखना चाहता है तो उसका कर्तव्य हो जाता है कि उस मंवंध में वह काफी अध्ययन करे, उनका अपनी कल्पना से समन्वय करवावे और त्रिसतक और साधान होकर अपनी लेखनी का उपयोग करे। यदि वह यह करता है तो दोपी नहीं है। उसका वर्तम्य पूरा हो जाता है। प्रसाद ने विरोप रूप से अपने इस कर्तव्य का पालन जाहाँ तक किया जा सकता था किया है। किंतु प्रसाद से अथवा अन्य लेखक से हमें यह प्राशा नहीं रखनी चाहिये कि वह साहित्यिक, लिलित कलाओं के लिये पहले अपना जीवन ऐतिहासिक तथ्यों की छान-बीन में लगावे और फिर शायद दूसरे जीवन में रचना करे। उसका तो एक ही जीवन होता है। जिसमें वह उसकी रुचि यदि ऐतिहासिक रचनाओं की ओर होती है तो वह अपने मनोनुकूल कल्पना के अनुसार इतिहास में से आधार ढूँढता रहता है। सर्व सम्मत विद्वानों के आधार पर वहुधा वह चलना चाहता है। किंतु सर्व सम्मत आधार उसे कम ही मिलता है क्योंकि ऐतिहासिक छान-बीन का कम चला ही करता है और चला ही करेगा। तब तक के लिये वह ठहर नहीं सकता। समय की गति पर, खोजों के होने पर प्रायः प्राचीन सिद्धांत, तत्त्व, घटनाएँ उनके प्रमाण आदि में निष्पशः अन्तर होता रहता है। कुछ बातें, तत्त्व, सामग्री समय के स्तरों के अन्दर दबती जाती हैं और कुछ अन्य नवीन ऊपर निकलती रहती हैं। नये सिद्धान्त, नये प्रमाण उत्तराने होते हैं और उनका स्थान फिर अन्य सिद्धांत, विचार, प्रमाण ले लेते हैं और ऐसा अनादिकाल से होता आया है और होता रहेगा। तब एक रचनाकार ऐसी परिस्थिति में क्या करे? क्या वह ऐतिहासिक तथ्यों के निर्णय तक ठहरा रहे अथवा ऐतिहासिक नाटक, उपन्यास आदि लिखे ही नहीं। यह संभव नहीं। वह तब तक के लिये ठहर नहीं सकता। साहित्यिक कलारमक प्रवृत्ति की प्रगति रुकी नहीं रह सकती। अतएव इस

प्रकार की रचनाओं में विचारणीय विषय यह है कि ऐतिहासिक तथ्य को लेखक ने अपने मस्तिष्क में अंकित कर लिये हैं उनके अनुसार वह अपने को ध्यक्त कर पाया है या नहीं। उसका कार्य तो इतिहास में से लीबन की प्राप्ति और उसका चित्रण है। प्रसाद ने वही पूर्णता के साथ किया है।

अतएव प्रसादजी की भी रचनाओं पर विचार करते समय श्रसादजी को अथवा हसी प्रकार के अन्य लेखकों को हसी कसौटी पर आलोचक को कहना चाहिए कि इस विशिष्ट दिशा में वह इतिहासक्ति नहीं हो सकता विकिप्राप्ति ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर ही वो उसकी पहुँच के अन्दर होते हैं उसने ऐतिहासिक सामग्री का उपयोग ईमानदारी से किया है अथवा नहीं और इससे द्वारा वह सामर्थ्य पूर्वक और पूर्ण रूप से अपने को ध्यक्त कर पाया है या नहीं। साहित्यिक रचनाओं पर प्रधानतः साहित्यिक धृष्टि से ही विचार करना योग्य है। भारतेन्दु वानू की ऐतिहासिक सामग्री में भी धार्ज की खोजों के अनुसार वह त्रुटियें दिखाई देती हैं। प्रसाद में भी नवीन खोजों के अनुसार ऐतिहासिक पात्रों के संबंध में कठिपय वातें विशद पड़ें। किंतु इससे किसी ऐतिहासिक नाटकादि लेखक की रचनाओं पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। हसी प्रकार से सोचनेवालों ने कालिदास आदि में भी गुण दोषों की उद्भावना की है। मेरे तो न केवल ऐतिहासिक तत्वों या प्रमाणों पर ये विचार हैं किंतु मैं तो समय की अवधि के संबंध में भी यही विचार रखता हूँ। कलाकार समय की अवधि में भी उतना बँधा हुआ नहीं है। कैसे 'चन्द्रगुप्त' नाटक में अवधि अवश्य बेहड़ बढ़ गई है, किंतु पाठक या रम की अनुभूति करनेवाला ऐतिहासिक सूक्ष्म तत्वों पूर्व समय की अवधि को लेकर नहीं बैठता। उसके समूचे कलाकार की रचना ही रहती है। उसी काल की घटनाएँ इधर उधर फेरफार से प्रयुक्त

की जा सकती हैं। हाँ इनना अवश्य है कि ऐसा न हो पावे कि पहले के व्यक्ति पीछे और पीछे के व्यक्ति पहिले दिखाये जावें। कलाकार पहिले कलाकार होता है न कि इतिहासज्ञ या अन्य।

अतएव प्रसादजी ने भी पूर्ण सच्चाई के साथ प्राप्त और स्व खोज और अध्ययन पर अवलंबित ऐतिहासिक तथ्यों, प्रमाणों एवं घटनाओं अथवा वर्णनों का उपयोग किया है। उन्हें कुछ कहना है। उनकी अपनी एक विचार-धारा है। उनकी अपनी कल्पना, कला और सौंदर्य की भावना है। उनकी स्वानुभूति, दार्शनिकता है। जीवन की आध्यात्मिकता है। और चूँकि उनके मस्तिष्क का प्रवाह, पथ, भुक्ताव, धारा इतिहास की ओर थी, उनकी वृत्तिएँ इतिहास में रंग गई थीं, विशेष फर भारत के गौरव मय स्वातंत्र्य-युग में, वौद्ध-काल में इसलिये उन्होंने अपनी कल्पना, कला, विचार-धारा के अनुरूप पात्र इतिहास में से खुने हैं। उस काल की, युग की मूल-भावना को व्यक्त किया है। उनके अध्ययन से उस काल के इतिहास की, उस काल के जीवन की, मूल-भावना की, संघर्षों की, उनके हृदय और मस्तिष्क पर गहरी छाप अंकित हो गई है। उन्होंने अपने हृदय की आँखों से उस काल के जीवन को देख फर मस्तिष्क के द्वार से कल्पना रानी को उसे समर्पित किया है। इसलिये उनके ऐतिहासिक नाटकों पर विचार करते समय यह देखने की आवश्यकता नहीं कि उन्होंने ऐतिहासिक दृष्टि से न्या खोज की या किन प्रमाणों, तथ्यों का उपयोग किया। इसें तो यह देखना है कि उनके मस्तिष्क पर जो अंकित हो गया था वह कैसा है? उनकी रचनाओं में वह कैसा व्यक्त हुआ है। उसमें युग की भावना किस प्रकार भिन्न गई है; अर्थात् भूत का आज से, हमारे युग से उन्होंने किस प्रकार सामंजस्य स्थापित किया है? उसमें स्थायीत्व अथवा असरत्व है या नहीं? हमारा यही विचारणीय दृष्टिकोण होना चाहिये।

‘चन्द्रगुप्त’ के समान ‘स्कंदगुप्त’ का प्रथम दृश्य भी नाटक की वह पृष्ठ भूमि है जिस पर उसका सारा दौंचा रद्दा होता है। प्रारम्भ में ही स्कंद और पर्णगुप्त के फ्योपकथन में ही वह आभास मिलने लगता है जिसका अंकित करना प्रसादजी को अभीष्ट है। याद का फ्यानक इसी का विस्तार, वृद्धि और विकास है। माधवकुमार स्कंदगुप्त मगध के महानायक वृद्ध और कई युद्धों के विजेता पर्णदत्त जिनकी “वीरता की लेखमाला शिश्रा और सिंधु को लोक लहरियों से लियी जाती” थी—की सराहना करते हैं। किंतु उन्हें अपने पर अविश्वास है। अविश्वास है यद्योंकि वह वीर देसता है कि स्कंद सद्य वीर, स्वदेश गौरव के रघुक झुमार में भी अपने “अधिकारों के प्रति उदासीनता” अपना घर बना रही है। वह देखता है कि “गुप्त-साम्राज्य के भावी शासक (युधराज स्कंदगुप्त) को अपने उत्तरदायिय का भ्यान नहीं।” स्वामीभक्त पर्णदत्त को यही बात खलती है और वह इसलिये स्कंदगुप्त को इस सीमा तक उत्तरें जित करता है। “राष्ट्र नीति दार्शनिक और कल्पना का लोक नहीं है। इस कठोर प्रायच्छवाद की समस्या वहो कठिन होती है। गुप्त-साम्राज्य के उत्तरोत्तर वृद्धि के साथ, उसका दायित्व भी बढ़ गया है पर, उस चौमुख को उठाने के लिये गुप्त कुल शासक प्रस्तुत नहीं, यद्योंकि साम्राज्य लधमी को वे अब अनायास और अपने शरण आनेवाली वस्तु समझने लगे हैं।”

कतिपय आल के तर्हां भी राष्ट्र-नीति को दार्शनिकता आदि की धाक्यावली के अन्तर्गत और कल्पना का लोक समझ रहे हैं।

इस प्रकार वे स्कंदगुप्त को इतना उत्तेजित कर देते हैं कि वह मालव-रक्षा के हेतु एवं युद्ध के लिये कठिवद्ध हो जाता है।

यह उज्जयिनी के गुप्त साम्राज्य के स्कंधावार को घटना थी उधर मगध का यह हाल था कि मगध सन्नाट् कुमारगुप्त ऐसा आराम, विलास और निश्चितता का जीवन व्यतीव कर रहे थे । उनकी दो रानियाँ थीं । देवकी बड़ी और कुमार स्कंदगुप्त की माता थीं । दूसरी अनन्त देवी छोटी किंतु महत्वाकांचिणी प्रौढ़ व्यस्का रानी थी । उसका पुत्र पुरगुप्त था । और वह उसके प्रयत्नों से बनाये हुए जीवन महावलाधिकृत भट्टार्क से मिलकर पद्यंत्र-द्वारा महाराज कुमारगुप्त और देवकी का अंत कर पुरगुप्त को मगध के सिंहासन पर अधिष्ठित करना चाहती थी । महावला-धिकृत बनाये जाने एवं क्तिपथ अस्पष्ट कारणों से भट्टार्क सब प्रकार से अपने को अनन्तदेवी के वशीभूत समझता और उसकी सहायता करना चाहता था । शायद उस पर “विद्रूप और व्यंग वाणों के घरसाये जाने के कारण वह भावी विषुव में उसकी सहायता का आश्वासन देता है । साथ ही प्रपञ्चबुद्धि का भी जो “क्रूर कठोर नर-पिशाच” बौद्ध कापालिक था, आतंक उस पर छा जाता है ।

अनन्त देवी का पद्यंत्र सफल होता है । किसी प्रकार सन्नाट् कुमारगुप्त का निधन कराया जाता है । इसका एवं उसकी बीमारी का पता तक नहीं लग पाता है । देवकी तक से यह बात छिपाई जाती है । उसके तथा अन्य लोगों के सन्नाट् के शब के पास जाने वक की मनाई रहती है । देवकी पर पहरा बैठ जाता है । मंत्री कुमारामाय पृथ्वीसेन, महाप्रतिहार और दण्डनायक इस संबंध में भट्टार्क, पुरगुप्त आदि से जानना चाहते हैं । उन्हें सूचित किया जाता है कि सन्नाट् का निधन हो गया है और युवराज पुरगुप्त को उनके स्थान पर वे सन्नाट् घोषित कर गये हैं । युवराज स्कन्दगुप्त के निष्पत्ति, न्यायी पच-कर्त्ता महाप्रतिहार और दण्डनायक तो उनका तीव्र सशम्भव विरोध करने के लिये तैयार हो जाते हैं किंतु पृथ्वीसेन ये संकट के समय गृह-विद्रोह बढ़ाना उचित

न समझ कर आत्मवध कर डालता है और इसी प्रकार वाद में महाप्रतिहार और दण्डनायक भी । ६

इधर स्कन्दगुप्त को सहायता से मालव की रक्षा हुण आपत्ति दूर होती है । स्कन्दगुप्त को समाचार मिलता है कि उसके पिता सत्राट पुरगुप्त का निधन हो गया है, किंतु इससे कैसे उस पर कोई प्रभाव नहीं पहुंचता है । वह साम्राज्य के लिये झगड़ने की अपेक्षा एकाकी जीवन ज्येतीत फरना ही अपने मनोनुकूल यात पाता है ।

उधर प्रपंचबुद्धि भटार्क और अनन्त देवी देवकी को मारने के लिये शर्वेनांग को धन और पद का लोभ देकर प्रस्तुत करते हैं । उसे मंदिरा पर मदिरा पिला कर उसकी बुद्धि अट की जाती है । बंदीगृह में देवकी के वध के लिपु सब पहुंचते हैं । अनन्त देवी भी वहाँ पहुंच कर देवकी को अरमानित और दुखी करना चाहती है । देवकी साइस पूर्वक स्कन्दगुप्त को देखने की साध लिये मरने के लिये तैयार हो जानी है किंतु ठीक समय पर स्कन्दगुप्त के पहुंचने पर उनका पड्यंत्र अपफल होता है । अनन्तदेवी “मैं तुम्हारे पिता की पत्ति हूँ” कहकर अपने को धनाती है । भटार्क लड़कर धायल होता है । इसके पहिले उसका अनावश्यक यह कहना कि “वीर के प्रति उचित व्यवहार होना चाहिये” । कुछ अर्थ नहीं रखता । स्कन्दगुप्त पुनः पुरगुप्त को ही त्याग-पूर्वक सिद्धासनासीन फर यह आशा करता है कि उसके इस त्याग और समा का परिणाम यह निकले कि वे पुनः पड्यंत्र और भारत राष्ट्र का अहित न करें । यहीं बन्धु चर्मा और भीम चर्मा का त्याग देखते ही चतुरता है, वे भारत राष्ट्र के कल्याण के लिये अपना राज्य सहर्ष, उच्च-

७ दुरोपियन राष्ट्रों में शासन परिवर्तन के समय भी ऐसी ही घटनाएँ देखने को मिलती हैं । स्वतंत्र-भारत की इन घटनाओं में कितना साम्य है । इनसे हमें शिक्षा महण करना चाहिये । - - - - -

ल्याग का आदर्श उपस्थित करते हुए स्कन्दगुप्त को सप्रेम समर्पित कर देते हैं। भारत के उपराष्ट्रों की यह भावना प्रशंसनीय, और यस्कर आदर्श एवं भारत-कल्याण प्रद है।

प्रत्येक माता अपनी संतान से क्या आशा रखती है इसका आदर्श भटार्क की माँ में देखने को मिलता है। उसकी माता को उसके कृत्य पर दुख और ज्योम होता है। उसने एक माँ के समान भटार्क से, एक भारत पुत्र से, आशा की थी कि "वह देश का सेवक होगा, मैलेन्ड्रों से पद दलित भारत भूमि का उद्धार करके मेरा कलंक धो डालेगा; मेरा सिर ऊँचा होगा कि मेरा पुत्र स्वदेश का अनन्य सेवक और सैनिक है"। किंतु उसका वही पुत्र "देश द्वोही" राजकुल की शांति का प्रज्य-मेघ बन गया।"

माता ने पुत्र को धिक्कारा। पुत्र में कुछ ज्ञान बोध हुआ किंतु चंद्रिक। उसने स्कन्द की सहायता करना राष्ट्र-सेवा का व्रत लेना स्वीकार किया किंतु उसकी आत्मा इननी परिष्कृत नहीं हुई थी कि वह अपनी माता के आदर्श की ओर अप्रसर होता।

अब कथानक का क्रम पुनः उज्जयिनी की ओर पहुँचता है। कमला भटार्क की माता भटार्क को लेकर उज्जयिनी पहुँचती है ताकि भटार्क को स्कन्दगुप्त की ही शरण में सौंप दे। यहाँ पहुँचकर उनकी विजया से भेट होती है जो पहिले स्कन्दगुप्त की ओर आकर्षित हो गई थी। किंतु बन्धु वर्मा के राजप स्कंद को सौंपने पर अकारण वह सोचने लगी कि अब स्कन्दगुप्त का देवसेना से प्रेम और परिणय हो जायगा। और उसके तुच्छ हृदय में जैसा प्रायः खियों में मानव-प्रकृति वश हुआ करता है इसकी प्रनिक्षिया प्रारंभ हो गई। वह भटार्क की ओर खिच गई। मगध पहुँचकर स्कंद के विरुद्ध घड़वंत्र में सहायक और पुरगुप्त के विकास की सहयोगिनी बनने लगी।

उज्जयिनी में कमला और भटार्क से बात करती हुई विजया और वे बन्दी बनाये जाते हैं। स्कन्दगुप्तके सामने जो अप मालय का शासक है वे उपस्थित होते हैं। साध्वी देवमी की महाधिका रामा के कारण उसका पति शर्वनाग जमा हो नहीं किया जाता यहिक देवमी के आदेश पर एक प्रांत का विषय-पति बना दिया जाता है। कमला की महत्त्व के कारण भटार्क भी जमा किया जाता है।

दुरात्मा प्रपञ्च बुद्धि को जो “क्रूर कर्मों की अवतारणा से भी एकवार सद्गुर्म के उठाने की आकंक्षा” रखता था इस पद्यंत्र के विफल होने से घोर निराशा हो जाती है। पुरगुप्त और अनन्तदेवी से निराश हो कर वह उज्जयिनी आ जाता है। दुर्वल आत्मा भटार्क को मुन् पतित फरता है। विजया की सहायता से अकारण ‘उत्रतारा’ की साधना के लिए देवसेना के बध का प्रपञ्च रचता है। विजया देवसेना को इमशान तक खींच लाती है। किंतु फिर भी असफल होता है। मातृगुप्त और स्कन्द-गुप्त यथा समय वहाँ पहुँच जारे हैं।

हुणों को सदा के लिये भारत से दूर करने के लिये तैयारी होनी है। स्कन्दगुप्त भारत के सब उपराष्ट्रों को आह्वान करता है। मगध को भी। किन्तु मगध तो उर्कोच ले चुका था। स्कन्दगुप्त को फिर अनन्तदेवी और भटार्क मिलकर धोखा देना चाहते थे। मगध विलासिता में ही निमग्न रहना चाहता था। वह निपिक्य था। जिस समय स्कन्दगुप्त भारत की रक्षा जी-जान से करनीचाला था उसी समय उसे धोखा देने का उपक्रम हो रहा था।

इस समय में गुप्त-रक्त पुरगुप्त के हृदय में “विजय पर विजय ! देखता हूँ कि एक बार वज्ञ लट पर गुप्त साम्र उप की पताका फिर फहरायगी। गरुड़-ध्वनि वज्ञ के रेतीले मैदान में स्वर्ण प्रभा का विस्तार करेगा” इस

भाव से होनेवाली प्रसन्नता उसके निष्कलुप हृदय की सरलता प्रकट करती है जिससे यह ज्ञात होता है कि अनन्त देवी सद्श भद्रत्वाकाँचिणी माता के प्रभावमें होता हुआ भी उसका हृदय सद्भावना के लिये स्थान दे सकता था ।

इसी स्थल पर एक सैनिक का पद त्याग भी प्रशंसनीय है । उसे इस घात का दुःख है कि "यवनों से उधार ली हुई सभ्यता नामकी विलासिता के पीछे आर्य जाति उसी तरह पड़ी है जैसे कुल-वधु को छोड़ कर कोई नागरिक वेश्या के चरणों में । देश पर यर्वर हूणों की चढ़ाई और तिस पर भी यह निर्लंब आभोद । जातीय लीबन के निर्वाणोन्मुख प्रदीप का यह दृश्य है । आह ! जिस मगध देश की सेना सदैव नासीर में रहती थी । आर्य चन्द्रगुप्त की वही विजयिनी सेना सबके पीछे निर्मंगण पाने पर साम्राज्य सेना में जाय । " उसने महावलाधिकृत विश्वासघाती भट्टार्क से स्पष्ट यह कह दिया । परिणाम यह निकला कि उसे मगध में रहने की ही आज्ञा मिली क्योंकि भट्टार्क सोचता था कि यदि ऐसे सैनिक युद्ध चेत्र में पहुँचेंगे तो अवश्य लड़ेंगे । निष्क्रिय नहीं रह सकेंगे किंतु सैनिक ने वृत्ति छोड़ना स्वीकार कर लिया । प्रसादजी की प्रतिभा और स्वदेश भक्ति सूखम राजनीतिक तत्वों को पहिचान ने की कुशाम्र छुड़ि यहाँ भी प्रकट करती है ।

यही हुआ । गांधार की घाटी में, कुम्भा के रण-चेत्र पर भट्टार्क के विश्वासघात का परिणाम यही हुआ कि मिली मिलाई विजय रह गई । सेना तितर-वितर हो गई । यंधु वर्मा का वलिदान निष्फल गया । स्कन्दगुप्त भी कहीं का कहीं यह गया ।

भारत में महात्माजी के २० वर्षों के प्रयत्नों के पश्चात् पुनः इस नदी में हमारा प्रान्तीयता का पोषक, अहमन्यता का निर्देशक बड़ा नेता कहलानेवाला व्यक्ति इस विश्ववेद विभूति को उसी नदी में वहाना चाहता

यही उस समय हुआ था । राष्ट्र को यव शक्तियें छिन्न-भिन्न हो गई थीं । मालव राजवंशु घर्मा का युद्ध-क्षेत्र में निघन हो गया था । पुत्र शोक के कारण देवकी का भी प्राण्यन्त हो गया था । स्फंदगुप्त का पता नहीं था । पर्णगुप्त देवसेना को लिये एक पर्णकुटी में लकड़ी घीत कर, और देवसेना लोगों को गाने सुना कर, भिजा माँग कर, लोगों के नेत्रयाण और वायाणों को सह कर किसी प्रकार अपने दिन निकाल रहे थे । आज भी हम निराशामय परिस्थिति को पहुँच रहे हैं, पहुँचाये बा रहे हैं । जन-मनोवृत्ति का अनुचित काम उठाकर गिराये जा रहे हैं । उस समय की विखरी हुई, विरापघात की शिकाह हुई शक्तिएँ देश में विखर कर भविष्य के लिए मार्ग परिष्कृत करने लगीं । भारत का भविष्य यही दिखाई दे रहा है । ८

देश अपनी कृति के दुष्परिणाम को देख चुका था । बीढ़ साधु त्यागशील विचारक प्रख्यात कीर्ति भी समझ गये थे । उनके पिछले

है । वह तो यचेता ही । भारत को स्वतंत्रता तो मिलेगी ही किंतु हमारे उस्तों के हारा अविवेक और अज्ञान से यिना समझे लो कुचेष्टाएँ चल रही हैं ये स्वतंत्रता प्राप्ति की अवधि को अवश्य बढ़ा रही हैं । आज हमारी शक्तियें छिन्न-भिन्न की जा रही हैं ।

८ कतिपय ऐसे बनायक निराश होकर अपनी शक्तिएँ देश के रचनात्मक कार्य की और लगा देंगे । कतिपय कुनेता और उसके सहयोगी Opportunists हुए शक्तिशाली नातियों से मिल कर शायद भारत-स्वतंत्रता के लिये प्रयत्न करें । किंतु यदि वे उद्दिष्टान हैं तो उन्हें समझ लेना चाहिए कि भारत को हिटलर मुसोलिनी की सहायता से मिलनेवाली स्वतंत्रता अधिक टिकेगी नहीं । अधिक पराधीन या रपेन के फैलो के समान ही परावर्लंबी बना देगी ।

बौद्ध महत्तों के पापों के प्रायक्षित स्वरूप उन्होंने हूणों को स्पष्ट उत्तर दे दिया था। स्कन्दगुप्त किसी प्रकार दुःख तकलीफ उठाकर पर्णगुप्त की कुटी पर पहुँचता है। सब शक्तिएँ पुनः वहाँ एकप्रित होती हैं। निराशामय स्थिति में भी सबका संघटन, सद्-असद् पात्रों का भारत स्वातंत्र्य के लिये एक ही संडे के नीचे विरोध भुला कर युद्ध करना भारत के स्वातंत्र्य का, हूणों से मुक्ति का कारण होता है।

जैसा पहिले देखा है सन्नाट् अशोक के पश्चात् यहाँ का शासन उतना व्यवस्थित नहीं रहा था। उधर बौद्धधर्म का प्रभाव भी अत्यधिक बढ़ गया था। वह अपना वास्तविक कार्य प्रायः समाप्त कर चुका था। वलिदान प्रथा एवं अन्य हिंसाशों का समय अब नहीं रहा था। ये उसका वाह्य रूप थीं किंतु बौद्ध दर्शन का भी प्रभाव अब व्यापक हो गया था। न केवल भिजुवर्ग अथवा साधारण जन-समूह ही वरन् राजपरिवारों तक में भी वह समा गया था। जो राजागण बौद्ध न थे उन पर भी तथागत बौद्ध की कस्ता का राज्य था। प्रायः राजकुमारों में राज-काज से उदासीनता प्रकट होती थी। एक नैरारथ का साम्राज्य सर्वत्र छा गया था। शासन, युद्ध से विरक्ति पैदा हो गई थी। नवरदस्ती जब युद्ध था पहला तब उसका सामना अवश्य चौरता और निर्भीकता से किया जाता था किंतु हृदयतल में अहिंसा, विरक्ति ही निवास करती थी। यहाँ तक कि गुप्त सन्नाट् जो वात्सल्य-धर्म की पुनर्स्थापना के लिये प्रसिद्ध हैं उन पर भी अवश्य बौद्ध दर्शन की, संसार की जग-भंगुरता, विरक्ति और अहिंसा का प्रभाव पड़ा होगा। स्वर्य स्कन्द-गुप्त के निन्न-लिखित कथनों द्वारा प्रसादनी यही प्रकट करना चाहते हैं।

“अधिकार सुख कितना मादक और सारहीन है। अपने को नियामक और कर्त्ता समझने की बलवत्ती सृष्टि उससे बेगार कराती है।”

“ऐसा जीवन तो विडम्बना है—जिसके लिये दिन-रात लड़ना पड़े । आकाश में तब शीतल शुभ्र शरद-शशि का विलाप हो तब भी दौत पर दौत रखे, मुष्टियों में चाँधे हुये लाल आँखों से एक दूसरे को धूग करें । वसन्त के मनोहर प्रभात में निभृत कगारों में, चुपचाप बहनेवाली सरिताओं का स्नोत गर्म रक्त बहा कर लाल कर दिया जाय ।”

“इस सान्नाज्य का चौम किसके लिये ? हृदय में अशान्ति, राज्य में अशान्ति, परिवार में अशान्ति !—केवल मेरे होने से ? मालूम होता है कि सबकी विश्व-भर की शान्ति रजनी में हमी धूमकेतु हैं; यदि हम न होते तब संसार अपनी स्वाभाविक गति से, आनन्द से चला करता ।”

यही मनोवृत्ति कम या अधिक उस समय के सारे राज-समाज की थी और वौद्ध-धर्म की विकृति के प्रभाव एवं उस समय के हुणों के लगातार आक्रमणों के कारण, जो भारत की दशा थी उसका आभास हमें शर्वेनाग के निर्मन-क्लिंखित कथन में मिल जाता है । भारतवासी उनके वर्द्धर आक्रमणों से इतने चर्स्त हो गये थे कि नैराश्य-ही-नैराश्य चारों ओर दिखाई देता था । भगवान् पर से भी विश्वास हटता जाता था । अवतारवाद का शाशर और मंगलमय सिद्धांत देव गया था । भक्ति और भावना का उद्देश मिट चला था । इनका स्थान ग्रहण कर लिया था अनीश्वरवादिता ने, स्वर्कर्म प्रधानता ने जिसके उच्च आदर्श पर पहुँचना, उतनी तप-तपस्या करना, साधारण गृह-शकट चलाने आले गृहस्थों के सामर्थ्य के बाहर की बात थी । उस समय भारतीय जनता का कोई धनी-धोरी नहीं था । शायद वौद्ध जनता के आह्वान पर जो शक एवं हृण जातियाँ आहुर्थी थीं उन्होंने वौद्धों को भी उतना ही सराया जितना अन्यों को । कनिष्ठ, हुविष्ठ आदि सन्नाटों ने वौद्ध-धर्म तो ग्रहण कर लिया किंतु भारतीय जनता पर उसी प्रकार अत्याचार होते रहे । उसी की भलक है यह । शर्वेनाग कहता है ।

“छीन लिया गोद से छीन लिया; सोने के लोभ से मेरे लालों को शूल पर के माँस को तरह सेंकने लगे। जिन पर विश्व भर का भाँडार लुटाने को मैं प्रस्तुत था, उन्हीं को राज्ञियों ने—हूणों ने, लुटेरों ने गुदवी की तरह लूट लिया। किसने देखा? किसने आहों को सुना? भगवान् ने? नहीं उस निष्ठुर ने नहीं तुना। देखते हुए भी नहीं देखा! आते थे कभी एक पुकार पर, दौड़ते थे कभी आह पर, अवतार लेते थे कभी आर्यों की दुर्दशा से दुखी होकर, अब नहीं। देश के हरे कानन चिता बन रहे हैं। धधकती हुई प्रचण्ड-ज्वाला दिग्दाह कर रही है। अपनी ज्वालामुखियों को वर्फ की मोटी चादर से छिपाये हिमालय मौन है। पिघल कर क्यों नहीं समुद्र से जा मिलता? अरे नड़, मूक, वधिर, प्रकृति के टीलों ओह !!”

‘राज्यश्री’ के कथानक से भी ‘विशाखा’ के समान ही तत्कलीन जन-साधारण की ऐतिहासिक, सामाजिक स्थिति पर विशेष प्रभाव नहीं

दिखाई देता सिवाय इसके कि उस समय प्रान्तों में आपस ‘राज्यश्री’ में किस प्रकार विद्वेष, कूटनीतिपूर्ण चालैं, युद्ध आपस में चला करते थे। प्रायः ये भी वंशगत हुआ करते थे और एक दूसरे पर विजय प्राप्त करना गौरव समझा जाता था। बौद्ध भिजुओं में भी अब तप, ल्याग, व्रत्यर्थ के स्थान पर वासना-जनित उमाद, पाखंड फैल गया था। जैवा शान्ति भिजु के चरित्र और पतन से हमें दिखाई देता है। देवगुप्त के चरित्र से उस समय के भारतीय नरेशों की स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। साथ-साथ राज्यवर्धन और हर्षवर्धन के युद्ध उसी युद्ध भावना, प्रतिर्हिसा, द्वेष आ जाने की भावना से प्रेरित होते हुए दिखाई देते हैं और इसकी परम्परा यहाँ तक चलती है कि ग्रहवर्मा, राज्यवर्धन आदि की पढ़्यन्त्रों से हत्या होती है और हर्ष एवं राज्यवर्षी को राज्य से, समाज से, युद्ध से, संसार से विरक्ति हो जाती है, कर्तव्य

में उदासीनता हो जाती है। ऐसे समय में यौद्ध दर्शन, उसका निराशावाद, उसकी प्राणीमात्र की समता की भावना ही जीवन को सुख शांति पहुँचानेवाली हो जाती है। यौद्ध-धर्म द्वारा प्राप्त इसी व्यापक भावना का चित्रण 'राज्यश्री' के कथानक में हुआ है। राज्यश्री का वैधव्य, हर्ष का महान् त्याग और उनकी ज्ञाना और जीव मात्र पर प्रेम और दया वही ही सुन्दरता से इस नाटिका में व्यक्त हुई है। इसमें प्रसादजी को राज्य-श्री का ही चित्रण करना अभीष्ट था। हर्ष की राष्ट्रीय-विजय और साम्राज्य भावना सांस्कृतिक, धार्मिक एकता आदि के संबंध का इसमें वेचल प्रारंभिक निर्दर्शन है। इनका विस्तृत चित्रण हमें सेठ गोविन्ददासजी के 'हर्ष' में मिलता है क्योंकि उनका वहाँ लक्ष्य हर्ष की महानता प्रदर्शित करने का है। प्रसाद की 'राज्य-श्री' और सेठजी का 'हर्ष' दोनों मिल कर समाट हर्ष के समय की ऐतिहासिक परिस्थितियों पर सुन्दर, व्यापक और व्यवस्थित ढंग से प्रकाश ढालते हैं।

'भ्रुव स्थामिनी' के कथानक पर विचार कीजिये। वे विधवा-विवाह (पुनर्लंगन) और मोह (तलाक) का समर्थन करना चाहते हैं और उनकी अलौकिक प्रतिभा और ऐतिहासिक विशाल ज्ञान ने 'भ्रुवस्थामिनी' इसके अनुरूप पात्र भी इतिहास की तहों में से खोज निकाले हैं। प्राचीन इतिहास में से भी हमारी आज की आधुनिक भावना को भी व्यक्त करने का मार्ग निकाल लिया है।

प्रसाद का दार्शनिक और कवि उनके नाटकों में भी हमेशा सजग रहा है। दार्शनिक और कवि दोनों चिन्तक होते हैं। उनके चितन के मार्ग

प्रायः प्रारम्भ में भिज हुआ करते हैं किंतु वे एक स्त्रीमापर पहुँच कर इतने निकट आ जाते हैं कि दूयों मिट जाती है। एक से नजर आते हैं। प्रसाद से एक ही व्यक्ति में ज्ञान दार्शनिक

प्रसाद का दार्शनिक
एवं काव्य चिन्तन

और कवि का सम्मिलन होता है तब वह वहां ही उच्चकोटि का और कलात्मक हो उठता है। दार्शनिक का गहन चित्तन में संसार की करतूतों की शुष्कता रहती है, करुणा की पौष्टक दुःखानुभूति रहती है, उसमें कवि का काल्पनिक सरस चित्तन जंय मिलता है तो वह शुष्क दार्शनिकता को भी कल्पना के रंग से रंग कर सरस, लोकोपयोगी और व्यापक बना देता है। एक कोन (Cone) के जैसे निम्न भाग अति दूर रहते हैं और ऊंचाई पर वे एक ही बिन्दु में निहित हो जाते हैं। उसी प्रकार दार्शनिकता और काव्यत्व भी चित्तन की सीमा पर जाकर एकाकार हो जाते हैं।

प्रसाद में भी दार्शनिक और कवि बीज रूप से ही, प्रारंभ से ही, विद्यमान हैं। उनका दार्शनिक अध्ययन करता रहता है। प्रारंभ में वह भारतीय संस्कृति, प्राचीन भारतीय गौरव, महाभारत और पुराण काल की सम्मता से अभिभूत होता है। आगे बढ़कर चूंकि उसे रैल-पथ ऐतिहासिक मिला है वह बौद्ध युग के दर्शन में रंग लाता है और अन्त में गुप्त कालीन वाणिण्य और बौद्धव वे समाहार के युग में जाकर लय और भंयकर हो उठता है। उसकी इस दार्शनिक पृष्ठ भूमि पर उनका कवि भी कल्पना के साथ रंग भरता रहता है। उसे सुन्दर बनाता रहता है। इसीलिये उनकी जो प्रवृत्तियाँ प्राचीन भारतीय वाणिण्यवाद के अध्ययन से प्रारंभ हुईं वे बौद्ध दर्शन में रम गईं क्योंकि प्रसाद की मूल प्रवृत्तिएँ हमेशा करुणा की ओर अग्रसर रही हैं। इसीलिये, हमें बौद्ध-अनात्मवाद एवं दुःखवाद की रेखाओं पर उनके चित्तन का अनुशीलन करना पड़ेगा।

बौद्ध दर्शन ने उनमें मानवी करुणा की सृष्टि की। अनीश्वरवाद ने उनके स्वतंत्र चिन्तन के साथ उन्हें नास्तिकता अथवा अनीश्वरवादिता के अवलंबन पर 'नियति', 'श्रद्धा' की ओर अग्रसर

किया। उनके चितन के सूखमत्व ने उन्हें वताय प्रसाद में बौद्ध धर्म कि सृष्टि का एक क्रम है। उसमें प्रकृति का वाल्यमूर्ष से का चिन्तन और नियति का आन्तरिक रूप से प्रवाह बहुता रहता है। मानवीय जीवन और उसकी घटनाओं पर ये अनवरत रूप से प्रभाव हालती रही हैं और यही सृष्टि का क्रम सदा रहेगा। उनके हसी चितन का सार उच्चतम, गहनतम रूप में हमें 'कामायनी' में मिलता है। यही सार उनकी भावनाओं में विखरा हुआ है और वह 'कामायनी' में निचुड़ कर बढ़ा ही भव्य, अल्लौकिक, अमर हो गया है। प्रसाद के चितन का यह सार हम युग की, शायद विश्व के काल्पनिक लगत की सब से अल्लौकिक घटना, सब से बड़ी और उच्चतम कृति है।

बौद्ध धर्म हैश्वर को नहीं मानता, आत्मा को निय नहीं मानता क्योंकि निय एक रस मानने से उनकी परिशुद्धि और मुक्ति के लिये गुण-जाग्रथ नहीं रहती। किसी ग्रंथ को प्रमाण नहीं मानता क्योंकि हमसे तुद्धि-की प्रमाणिकता जाती रहती है तथा जीवन-प्रवाह को हसी शरीर तक परिमित नहीं मानता। बौद्धधर्म हैश्वर को हमलिये नहीं मानता कि किसी भी कारणउसका अस्तित्व अथवा आवश्यकता उसे प्रतीत नहीं होती। उसे वह सृष्टिकर्ता भी नहीं मानता क्योंकि संसार में नो भी दुराहृ-भलाहृ, सुख-दुख, दया-क्रूरता देखी जाती है, वह सभी हैश्वर से और हैश्वर में है ऐसा मानना होगा। हैश्वर सुखमय की अपेक्षा दुःखमय अधिक होगा; क्योंकि हुनियाँ में दुख का पलंडा भारी है। हैश्वर दयालु की अपेक्षा क्रूर अधिक है, क्योंकि हुनियाँ में चारों तरफ क्रूरता का राज्य है। जीव का आधार अन्य जीव है। ध्यान से देखने पर दय-अदय सारा ही जगत एक रोमांचकारी युद्ध क्षेत्र है, जिसमें निर्वल प्राणों सबलों के ग्रास बन

क (ले०—शाहुल सांकृत्यायन-विशाल भारत आगदन-पौप १६८६
“बूद्ध धर्म वया है?” “बौद्धों के अनामवाद” के आधार पर)

रहे हैं। अतएव ऐसी अवस्था में वह अपवित्रता आदि बुराह्यों का स्तोत्र होने का भी दोषी होगा। यदि ईश्वर को सब कार्यों का कर्ता-धर्ता माना जाय तो मनुष्य उसके हाथ की कठ पुतली हो जाता है। और फिर वह किसी अच्छे बुरे काम के लिये उत्तरदायी नहीं हो सकता और न उसकी मुक्ति और शुद्धि के लिये ही कोई गुंजाहश रहती है।

बौद्ध धर्म आत्मा को नित्य इसलिये नहीं मानता कि यदि उसमें बुराई-भलाई हैं तो वे अनादि काल से हैं और रहेंगी। फिर उसकी शुद्धि का प्रयत्न निष्फल है। उसे एक रस मानने पर यदि वह बद्ध है, तो अनादि काल से है और अनन्त काल तक रहेगी, फिर मुक्ति का प्रयत्न निष्फल है। फिर उसे धार्मिक विधि-निपेदों की आवश्यकता नहीं।

बौद्ध धर्म किसी ग्रन्थ को स्वतः प्रमाण इसलिये नहीं मानता कि उसमें वर्णित-विषयों पर सन्देह न करने से जिज्ञासा का मार्ग रुक जाता है। परिशुद्ध और मुक्त बनने के लिये कर्म करने में मनुष्य का स्वतंत्र होना जरूरी है। और कर्म करने की स्वतंत्रता के लिये शुद्धि का स्वतंत्र होना जरूरी है।

बौद्ध धर्म जीवन प्रवाह को इस शरीर के पूर्व और पश्चात् तक मानता है। बच्चे की उत्पत्ति के साथ उसके जीवन का आरम्भ होता है। बच्चा शरीर और मन का समुदाय है, बतिक एक काल में असंख्य अणुओं का समुदाय है। ये धणु हर जण बदल रहे हैं, और उनकी जगह उनके समान दूसरे अणु आ रहे हैं। इस प्रकार जण-जण शरीर में परिवर्तन हो रहा है। जो बात यहाँ शरीर की है, वही मन पर भी लागू होती है। अन्तर केवल इतना ही है कि मन सूक्ष्म है, उसका परिवर्तन भी सूक्ष्म है, और पूर्वपर रूपों का भेद भी सूक्ष्म है। इसलिये उस भेद का समझना कठिन है। आत्मा और मन एक ही है, और आत्मा-जण-जण बदल रही है।

भगवान बुद्ध का सारा दर्शन अनिय दुःख और अनात्मवाद के सिद्धांतों पर अवलम्बित है। सभी वस्तुपै अनिय हैं ज्ञानिक हैं, परिवर्तन शील हैं। इस नियम को विना अपवाद के सभी देश, काल धर्म में मानना भगवान बुद्ध की शिक्षा की सब से बड़ी विशेषता है। यह नियम सिर्फ वाह्य वस्तुओं पर ही लागू नहीं, विना अभ्यन्तर आत्मा तक इसके शासन के बाहर नहीं है। वस्तुनः बौद्ध मत में अनियता हो एक नियम है। वस्तुपै अनिय, ज्ञानिक हैं अतः किन्हीं दो का सदा एक साथ रहना तो हो नहीं सकता। सभी प्रियों का वियोग अवश्यम्भावी है। प्रिय वियोग हो तो दुःख है। जहाँ वियोग का तीर हतनी लेजा से चल रहा हो वहाँ प्रिय समागम के आनन्द को पेट भर कैसे लूटा जा सकता है। सभी सुखों की तह से दुःख उसी तरह छिपा हुआ है जैसे दीपक के नाचे अंधकार। दुःख ही दुःखद सत्य है।

इस प्रकार जब इस किसी धर्म पर भी विचार करते हैं तब इस 'उसका दो प्रकार से अनुरोधन कर सकते हैं। बौद्ध धर्म के भी दोनों

रूपों का हमें ध्यान रखना होगा। एक रूप तो धर्म का वास्तव रूप उसका वह है जो धौद्ध-दर्शन है जिसमें सिद्धांत हैं।

आत्मा, अनात्मा, शरीर विश्व के विभिन्न परमाणुओं का विवेचन, विश्लेषण, संबंध आदि का कथन होता है और जो प्रायः शुष्क होता है। इसमें विचार धारा का विकास अथवा पूर्व विचारों का खंडन-मंडन रहता है। प्रायः इसमें मध्यम मार्ग ग्रहण किया जाता है, जैसा कि महात्मा बुद्ध ने अपने पूर्व की विचार-धाराओं की अतिरेकताओं के मध्यम माग को ग्रहण किया है और जो "मध्यमा प्रतिपदा" के नाम से प्रख्यात है।

दूसरा विचारणीय रूप वह होता है जो किसी धर्म का आन्तरिकरूप रहता है जिसमें कोरा सैद्धांतिक आत्मा-अनात्मा शरीरादि का विवेचन

नहीं रहता । उसमें उस धर्म का मूल रूप, उस धर्म का आंतरिक स्वरूप जीवन और आत्मा रहती है । एक विशिष्ट अन्तर्तंत्रमें प्रवाहित होनेवाली धारा, सरसता, करुणा एक परम्परा रहती है जो प्रायः उन्हीं सिद्धांतों, दर्शन पर तो निर्भर रहती है किंतु सिद्धांतों, दर्शनों की दुरुहता, शुष्कता से वह दूर रहती है और यद्यपि शुद्ध तर्क की दृष्टि से उसमें दोप या अतिरेक हो जाया करता है किंतु वह ही उस धर्म के अनुयायियों में व्याप्त होकर कल्याण या अकल्याण करती है । घौढ़, जैन आदि धर्मों ने दर्शन और सिद्धांतों के परे भी एक जनोपयोगी धारा प्रवाहित की है । सैद्धान्तिक, दार्शनिक विवेचन तो बाद में होता रहा ।

प्रसाद की विचार-धारा पर न केवल घौढ़ दर्शन का सैद्धान्तिक प्रभाव पड़ा है किंतु उससे कई गुण अधिक घौढ़-साहित्य के अनु-शीलन का । ऐसा ऐतिहासिक अध्ययन की प्रवृत्ति के कारण भी हो गया है । घौढ़-धर्म का उद्गम भगवान शुद्ध की करुणा में है । उनकी करुणा विश्व के क्रन्दन में निहित है । वह केवल यत्तिहासित पशुओं की पुकार ही नहीं थी जिसने गौतम के हृदय को कॅंपा दिया, उनके मस्तिष्क को मथ दिया, विज्ञान कर दिया । वह तो मानवकी, समूचे मानव की, विश्व की, प्राणीमात्र की पुकार थी जिसने उनकी आत्मा में विद्वोह फैला दिया । जिसने उन्हें करुणा और त्याग की ओर अग्रसर कर दिया । सब जानते हैं, रोगी, वृद्ध और मृतक को देख कर ही उन्हें चैराज्य उत्पन्न हुआ । इस युगान्तरकारी घटना को चाहे स्वर्म कहो अथवा साधारण एक-एक व्यक्ति मानो अथवा व्यक्तियों की समष्टि, किंतु ही वह भ्रुव, प्रत्यक्ष सत्य जिसकी अवहेलना नहीं की जा सकती । उन्हीं को देख कर उन्हें मानव की, प्राणियों की निरीदता, निर्वलता, असहायता का ज्ञान हुआ । मानव की लघुता, तुच्छता, परवशता का ज्ञान

हुआ जिसने उनके हृदय में मानवी, प्राणी मात्र की, करुणा का द्रुक् किया ।

संसार के सब प्राणी सुख चाहते हैं । दुख से भय-भीत रहते हैं । वे चाहते हैं उन्हें कोई रोग न हो, शोक न हो । इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग न हो । उनमें सदा यौवत, चल 'प्रसाद' की मानवी चना रहे । वे बृद्ध न हों । मरें नहीं । हमेशा करुणा के आधार उनकी मनोकामनाएँ पूर्ण होती रहें । मनोवांछित धन, जन, पुरुष अथवा नारी की प्राप्ति होती रहे ।

वह एक छवि अधिकारों का भोग करते रहें । उनके कार्यों में स्वतंत्रता में वाधा उपस्थित न हो । इन्हीं सब की उपलब्धि के लिए उसने अपने मनोराज्य में कामधेनु, कल्पवृक्ष और स्वर्गादि की कल्पना की । अपनी सुख स्वतंत्रता के हेतु उसने राष्ट्रों, देशों का नियमित संबन्धन और विघटन किया । दिसाएँ कीं । पूजा, यज्ञ विजिदान तथा अन्य अनेक धर्माचरण, ढोंग, पाखंड; क्रियाकांड, उप-तपस्याएँ कीं । मंदिरों, मस्जिदों, गिरजाघरों आदि का निर्माण किया । किंतु परिणाम क्या तिकला ? उसके चारों ओर चक्रवृद्धों की, मकड़ी के जालों की रचनाएँ होती गईं । वह सुलझने के बाय उलझता ही अधिक गया । उसने सोचा विकास हो रहा है । उत्तरि हो रही है । किंतु एक समय के बाद जो उसने पीछे फिरकर दृष्टि डाली तो उसे ज्ञात हुआ कि वह तो पीछे जा रहा है । अवनति की ओर चिचता चला जा रहा है । उसने नव सभ्यता का निर्माण किया । किंतु वह अधिकाधिक असभ्य, नज़ होता गया । अपने को ढँक कर उसने मानव के सुख के लिये नवोन ज्ञान-विज्ञानों के साधनों की सृष्टि की किंतु उल्टी उसे उनसे दुःख ही की प्राप्ति हुई । इतने प्रयत्नों के बावजूद भी मानव सुखी न हो सका, सम्पन्न न हो सका । मानव-मानव समानता के लिये उसने साम्यवाद का संदेश दिया ।

किंतु उसमें वैमनस्य, विप्रमता, और कदुता ही की अधिक वृद्धि हुई। उसने सुख, संतोष और आराम के लिये नगरों का निर्माण किया किंतु अस्वास्थ्य, असंतोष, कार्य चहुलता का रोग अपने साथ लगा लिया। आशामय भविष्य और आदर्श में उसे निराशा और अपकर्ष मिला। उसने रोगों से बचने के लिये टॉनिक लिया किंतु वह निर्वलता का अनुभव करने लगा। उसका शरीर खोखला होने लगा। उसने आयुवृद्धि के उपायों का आचिकार किया किंतु उसे उनके साथ हुःख, अवसाद, रक्षानि और अधिकाधिक विभीषिकाओं का सामना करना पड़ा।

एक समय था जब मनुष्य धरातक, निर्देंद्र, स्वतंत्र और विखरा हुआ था। वह बड़ा होगा। उसके कुटुम्ब बने। जाति और जातिनेता बने। राष्ट्र नेताओं का उद्गम हुआ। राज्य और राजा की उत्पत्ति हुई। यह सब क्यों? सुख, शान्ति, आत्म-संतोष के लिये। विकास, वृद्धि और उन्नति के लिये उसने राज्यतंत्र तथा अन्य तंत्रों की स्थापना की कि वह सुखी हो सके। पर वह सुखी न हो सका। राज्यों की सृष्टि के साथ स्वामित्व, भूमित्व और राज्यत्व की उत्पत्ति, और उनके विकास के साथ, राजनीति फिर कुटिल राजनीति, फिर छुल प्रपञ्च का दौर दौरा शुरू हुआ। राज्य शक्तियों को अपनाने, उनका उपयोग निजी स्वार्थ के लिये करने की प्रथा चल पड़ी और फलतः न केवल राज्यों में ही किंतु साम्राज्यों में भी वही छुज, प्रवृत्तना, कलह, कौटुम्बिक और राज्य संवंधी, उत्थान, पतन, सृजन और उन्मूलन की वृद्धि हुई। और वह इस सीमा तक पहुँच गई कि राज्य से, राज्यतंत्र से, राजा से, राज्य-संवंधी कार्यों से ही विश्वास हट गया। घृणा हो गई। न केवल व्यक्ति और समाज तक ही बल्कि राज्य तक को यही उदासीनता गौतम के रूप में एकाएक जाग्रत हो गई। आज के समान उस समय भी जिसकी लाठी उसकी भैंस की कहावत सत्य प्रतीत होने लगी। एक विपाद,

एक अवसाद, एक धृणा, एक गुलानि छा गई। मानव-समाज, राष्ट्र और राज्यों की यही उदासीनता-बौद्ध उदासीनता और निराशा है जिसका दिग्दर्शन हमें प्रसादजी के नाटकों में देखने को मिलता है। आज के समाज उस समय भी यही परिस्थिति थी जिसने साधुओं, तपस्वियों की विरक्ति जनसमूह में फैला दी थी। वात यह है कि यह परिस्थिति रहती तो किसी नु किसी रूप में हमेशा ही है किंतु लोग सहते जाते हैं, उसका अनुभव जैसा चाहिए वैसा नहीं कर पाते हैं तब कोई मृशकवि, कोई महारामा, कोई महान् आत्मा उन्हें जन-समूह में व्यापक बना देती है। उससे उनका अनुभव करवा लेती है। उसमें उसकी अनुभूति की, उस अनुभूति को समझने की शक्ति पैदा कर देती है। 'अज्ञातशब्द' में वाजिरा कहती है—'प्रकृति से विद्वोह करके नये साधनों के लिये कितना ब्रयास होता है। अन्धी जनता अंधेरे में दौड़ रही है। इतनी छीना छपटी छूतना स्वार्थ साधन कि सहज प्राप्त्य अन्तरामा के सुख-शान्ति को भी जोग खो दैठते हैं। भाई-भाई से लड़ रहा है। पुत्र-पिता से विद्वोह कर रहा है। यियाँ पतियों पर प्रेम नहीं किंतु शासन करना चाहती हैं। मनुष्य-मनुष्य के प्राण लेने के लिये शस्त्र-कला को प्रधान गुण समझने लगा है और उन गायांथों को लेकर कवि कविता करते हैं। बर्वर रक्त में और भी उष्णता उत्पन्न करते हैं।'

विश्व की यही चिरकालीन दर्शा है जिसका विशिष्ट प्रदर्शन भगवान बुद्ध ने किया, मानव को हृदयंगम कराया और वही प्रसाद में उत्तर आया है जिसका चित्रण 'प्रसाद' के प्रत्येक दार्शनिक पात्र में सहज रूपेण मिल जाता है।

उनके दार्शनिक विचारों की दूसरी घारा, प्रणाली है उनकी 'प्रसाद' की 'प्रकृति' 'नियति', 'अदृष्ट' 'अदृष्ट' की लिपि' जिसका उन्होंने 'नियति' बहुलता से प्रयोग किया है। इसमें उनका

अध्ययन ही नहीं है उनके दार्शनिक स्वतंत्र चिंतन का सार, निचोड़ है :

अध्ययन और चिन्तन के पश्चात् जिस परिणाम पर वे पहुँचे हैं वह है उनका सिद्धान्त वाक्य कि "मनुष्य क्या है ? प्रकृति का अनुचर और नियति का दास," देखने में किसी को यह सिद्धान्त पुराना मालूम पढ़े, इसकिये शायद मौलिकता से हीन भी किंतु प्रसादजी इस पर पहुँचे हैं वेदों, उपनिषदों और आरण्यकों के चिंतन और अनुभव के पश्चात् के नेति-नेति के समान ही ।

प्रसादजी की यह प्रकृति और नियति क्या है ? मनुष्य वास्तव में प्रकृति का अनुचर ही है । प्रकृति के अनुपार ही वह अपने जीवन और उसके साधनों का उपयोग और नियमन करता है । इसी के आधार पर उसके समस्त कार्य अवलंबित रहते हैं । प्रकृति की सहायता से ही उसके कार्य सफल होते हैं । जिसके ज्ञान से ही मनुष्य को उसकी सच्ची सहायता मिलती है । प्रकृति का विरोध कर वह जो नहीं सकता । दीर्घायु नहीं हो सकता । पूर्णतया सफल नहीं हो सकता । मनुष्य कहता है उसने प्रकृति पर विजय पाई है । कितनों आमक है यह धारणा । यह प्रकृति पर विजय नहीं है । वह तो उसका सहयोग है, अनुकरण है । उसके रहस्यों का ज्ञान है जिसके आधार पर वह रेल दौड़ाता, जहाज चलाता, चारुयानों पर उदत्ता और तार अधवा वेतार, रेडियो आदि से खबरें सुनता और दूर के चित्र देखता है । प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन करके ही वह उसका अनुकरण कर पाया है न कि विरोध के द्वारा । जरा भी विरोध करता है कि उसे पराजित होना पड़ता है । विरोध पर तो वह टिक भी नहीं सकता । उसके आविष्कार, अन्वेषण प्रकृति पर विजय नहीं उसके अनुकरण, शक्तियों का ज्ञान हैं । 'मनुष्य प्रकृति का अनुचर' से प्रसाद का यही तात्पर्य है ।

दूसरा तात्पर्य उनका यह है कि मनुष्य में मूलतः कुछ प्रवृत्तिएँ ऐसी होती हैं और उनके रक्त-समांस में इतनी समाई रहती हैं कि उस मनुष्य से, उस मनुष्य के व्यक्तित्व से वे दूर नहीं की जा सकतीं। शिक्षा तो शिक्षा, संस्कृति और समय भी उन्हें दूर नहीं कर सकता। उनमें कभी-वेशी, कुछ परिवर्तन कर सकता है। कुछ रूप बदल सकता है। किन्तु उन्हें बदल सकता, ज्ञान, विज्ञान, दैव आदि लिखीके वश की यात नहीं। स्वयं उस व्यक्ति के वश की यात नहीं होती। यह यात ऐवल व्यक्ति विशेषों पर ही बित्त नहीं होती किन्तु समाजों, जातियों और राष्ट्रों पर भी उतनी ही लागू होती है। हम देखते हैं कि मनुष्य अति सज्जन और परोपकारी होता है। वह अन्याय सहकर भी दुनियाँ के दुःख और कष्ट को भी देखकर अपनी सज्जन प्रवृत्ति नहीं छोड़ सकता है याहे सदा दुःख ही उठता रहता है। दुष्ट, कोई प्रवृत्तिवालों की भी यही दशा रहती है। हम देखते हैं कुछ ही शताविद्यों से सभ्य हुए यूरोपीय राष्ट्र और उनके वंशज देशों में से अभी तक वर्वर रक्त कम नहीं हुआ। सब दृष्टियों से विचार करने पर भी यही ज्ञात होता है कि मनुष्य यथार्थ में प्रकृति का अनुचर ही है।

और नियति का दास तो वह है ही। 'चटप्प जयता अटप्प की लिपि' चाहे 'कितनी ही आशामय क्यों न हो किन्तु वह मूलती तो 'नियति की ढोरी' पर ही है। 'नियति की ढोरी' परह कर ही तो वह 'आशामय भविष्य' में प्रवेश करता है। कुछ चेष्टों को, कुछ समय को, कुछ उच्छ्व, साधारण, धृणिक घटनाओं को वह संचालित कर सकता है किन्तु घटनाओं के खोतों को, समय को चिराटना के समझ तो उसे 'मस्तक नवाना ही पड़ता है। चालतः वह ऐसा सोचता है कि अमुक-अमुक कार्य अमुक-अमुक प्रकार होंगे किन्तु उनसी तह में क्या होने वाला है उसे वह नहीं जानता। यही तो प्रमाद की 'नियति' है। वह

पृथ्वी माता से सोना, चाँदी, कोयला आदि निकालता तो रहता है किंतु कैसे उनमें भावी विस्तोरों की सृष्टि हो रही है इससे वह अवगत नहीं। भुचाल आता है। ज्वालामुखी प्रकट होते हैं, वाँड़ आ जाते हैं। वह धराशयी हो जाता है किंतु कैसे इनका सूखन कहाँ और कब होता रहता है आज का मनुष्य तो इनसे परिचित नहीं हुआ। भविष्य तो नियति आधीन है ही। जिस दिन मनुष्य प्रकृति और नियति के गूढ़तम रहस्यों से पूर्णतया परिचित हो जायगा कदाचित् उस दिन प्रलय हो जाय क्योंकि उसके पश्चात् फिर सृष्टि क्रम रचने की जरूरत पड़ जायगी। प्रकृति और नियति ने अपने गूढ़तम रहस्यों को हमसे अब तक बड़ी सावधानी से छिपाया है। मनुष्य की कितनी सचेतताओं, सावधानियों के बिल्द भी प्रकृति और नियति की ही बिज्ञ द्वारा हुई है। वैज्ञानिकों ने सचेतताओं और सावधानियों के सहारे उनका विरोध किया और महात्माओं ने उनकी शक्तियों के अनुकरण को अपना ध्येय बनाया। दो विभिन्न मार्गों से दोनों पहुँचे एक ही स्थान पर। यही तो 'प्रकृति' और 'नियति' का रहस्य है जो अदृष्ट और आशामय है।

'प्रसाद' ने येही भावनाएँ विभिन्न प्रकारों और स्थलों पर अपनी जात्य रचनाओं में, उनके पात्रों के द्वारा प्रकट की हैं। ॥ ७१.४८५

अब उनके दर्शन की विभिन्न विचारधाराओं पर विचार कीजिये। मूल स्पष्ट से प्रसाद के दार्शनिक चिंतन में तीन प्रणालियें लिपित होती हैं जो शब्दधा रूपों में उनके नाटकों में, दार्शनिक दर्शन की विभिन्न विचार-निक विचार कणों में विखरी हुई हैं। प्रथम धाराओं का चिन्तन दार्शनिक धारा तो वह है जिस पर वेदकाल से लेकर गीताकाल तक के प्राचीन ऋषियों के चिंतन का प्रभाव पड़ा है। दूसरी वह है जिसमें घौढ़-दर्शन, हुःख अथवा निराशाचाद का प्राचुर्य है और जिसमें निर्वृति मार्ग की प्रधानता है।

तीसरी धारा हमारे युग के चितन की धारा है जिसमें प्रसाद का केवल व्यक्तीकरण अथवा स्पष्टीकरण ही नहीं है उनका मालिक चितन भी है । यूँकि प्रसाद की मूल प्रवृत्तिएँ इतिहास की और थीं और प्रसाद का रोम-रोम कवित्व अथवा काव्य था, काव्यमय इतिहास अथवा इतिहास समन्वित काव्य था, ये धारायें भी इतिहास के काल के अनुसार उनमें व्यक्त हुई हैं । निस काल की उनकी रचना है, जैसा उनका पात्र है उसी के अनुकूल उनका दार्शनिक चितन पथ प्रगत करता जाता है । हूसी कारण उनकी दार्शनिकता और ऐतिहासिकता में काव्य और-प्रोत द्वया हुआ है और किसी एक का पृथक देखना, उनमें से किसी को विलग करना संभव नहीं । पौराणिक काल की रचनाओं में उस काल के दार्शनिक विचारों का सच्चा व्यक्तीकरण, बौद्ध-काल की रचनाओं में बौद्ध-दर्शन की आत्मा और गुप्त काल की रचनाओं में हम काल के बौद्ध-ग्राहण-संघर्षमय अवस्था का शब्दाद, ग्लानि, कटुता, हँर्पा, जय-पराजय और धार्मिक उन्माद की चिनगारिएँ प्रज्ञलित हो उठी हैं ॥

हमारे युग का कन्दन, प्रतारणा, पराधीनता का अभिशाप और उससे मुक्ति का संदेश, हमारे युग की राजनीतिक, सामाजिक समस्याएँ

युग और साइ संवंधी चितन और उनके हल, राष्ट्रीयता और उसका स्वरूप उसके विकास और उचित मार्ग के निर्देश और 'आदर्श, 'भारत एक और अखंड है' का संदेश और इसके लिये भारतीयों और नरणों के कर्तव्य का ज्ञान और इन सब से ऊपर विश्व-बन्धुव्य अथवा मानवी कहणा का उद्देश उक्त दोनों युगों की रचनाओं में परोक्ष रूप से और 'कामना', 'एक घूँट' में प्रत्यक्ष और विशेष रूप से उज्ज्वलित हो उठा है । उछुल-उछुल पड़ा है ।

उनके ऐतिहासिक, दार्शनिक और काव्यमय चिन्तन का उज्ज्वल-तम, भव्यतम, सर्वोपरि रूप, सार 'कामायनी' काव्य में थड़े ही सुन्दर

प्रथम धारा के दर्शन विरोप रूप से 'जनमेन्य का नाग यज्ञ' और 'चन्द्रगुप्त' में, द्वितीय के 'विशाख', 'स्कन्दगुप्त', 'श्रजातशन्त्रु', 'राज्यश्री', एवं 'ध्रुव स्वामिनी' में तथा तृतीय के 'कामना' और 'एक घूँट' तथा अन्य सब पूर्वोक्त रघनाथों में होते हैं।

सृष्टि क्या है ? सत असत का समन्वय । एक क्रिया, एक व्यापार, एक खेल । इस व्यापार या खेल को चाहे रोकर खेलो चाहे हँस कर । खेलना आवश्य पड़ेगा । क्योंकि तुम लन्म-धारण कर चुके हो अब रुक नहीं सकते, फिछे हट नहीं सकते । सृष्टि में तो अन्धकार और प्रकाश, दिन और रात, जड़ और चेतन दोनों हैं । तुम्हें तो दोनों में से गुजरना पड़ेगा । यही तो द्वन्द्व है, हैत है । इसी द्वन्द्व और हैत में से निकलकर तुम्हें अहैत तक केवल चेतन, आत्मा की शक्ति तक पहुँचना पड़ेगा । उसे पहिचानना पड़ेगा । अन्धकार में भी तुम्हें प्रकाश दिखाई दे सकता है । देता है यदि तुम देखो, देख सको । तुम्हारा मुख आगे की ओर ही है फिर तुम्हें निराश होने की आवश्यकता नहीं । कर्म करते जाओ और घड़ते जाओ । कर्तव्य करो और सुखी रहो । जड़ में भी चेतन का अनुभव करो । जड़ जड़ नहीं वह भी उसी चेतन का ही अङ्ग है । इसी तथ्य को समझने हुए 'ज० का ना०' में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं, "सृष्टि एक व्यापार है, कार्य है । उसका कुछ न कुछ उद्देश्य है ।द्वन्द्व तो कल्पित है, अम है । उसी का निवारण होना आवश्यक

और कलात्मक रूप में निचुड़ आया है । इसीलिये रामचरित-मानस के पश्चात् हमारे युग के इस सर्वतोमुखी प्रतिभावाले तुलसी ने इसें युग-युग तक अमर रहनेवाले महाकाव्य को प्रदान कर दिन्दी-साहित्य का और यदि विश्व उसे समझे और जब समझेगा तो उसका महान् उपकार किया है । चिरकृत्या बनाया है ।

है ।" अर्जुन पूछता है—“पर यदि कोई दुःख, रात्रि, जड़ता और पाप को ही सत्ता माने और अन्धकार को ही निश्चय जानेतो १” तब भगवान कृष्ण समझते हैं, “तो फिर जीव दुःख के भैंचर में ही आनन्द की उत्कट अभिलापा क्यों करता है । रात्रि के अन्धकार में दीपक क्यों जलाता है १ क्या वास्तव में वास्तविकता की ओर उसका झुकाव नहीं है ?…… वास्तव में सर्वत्र शुद्ध चेतन है, जड़ता कहाँ १”

इसी सिद्धांत का काव्य-सौंदर्य समन्वित प्रतिपादन ‘एक धूट’ में आनन्द द्वारा प्रसादजी करवाते हैं । वह इसी फिलॉसफी का आधुनिक रूप में दिशलेपण है । “अपने काल्पनिक अभाव, शोक, ग़लानि और दुःख के काजल आँखों के थाँसू में धोल कर सृष्टि के सुन्दर कपोकों को क्यों कल्पित करें ?” “कितना सुन्दर लीबन हो, यदि मनुष्य को इस यात का विश्वास हो जाय कि मानव-जीवन की मूल सत्ता में आनन्द है ।”

प्रथम उद्धृतांश में उनका दार्शनिक और द्वितीय में उनका कवि है ।

उनके हस दर्शन की धारा ‘स्कन्दगुप्त’ तक में पहुँच गई है । वर्दी भी सृष्टि का वे कोई न कोई उद्देश्य स्वीकार करते हैं किंतु इस उद्देश्य में उनकी आदर्शवादिता के दर्शन होते हैं । भारतीय ‘स्कंदगुप्त’ में अवतार-‘दर्शन की परंपरा में जैसे उक्त श्रीकृष्ण के गीता-चाद का ‘चितन’ ज्ञान की धारा के परचात् अवतारचाद का प्रारंभ हुआ । राम और कृष्ण की गणना अवतारों में की जाने लगी । इसी का आभास हमें निम्न लिखित दो उद्धृतांशों में मिलता है । इनसे हमें यह भी ज्ञात होता है कि आज महारामाजी किन विचारों के पोषक हैं और कैसे उनमें अवतार होने की जमता का ज्ञान प्रसाद कर सकते थे । विचार-धारा का यह ‘स्कन्दगुप्त’ द्वारा कहा हुआ धंश यद्यपि बौद्ध दर्शन की प्रथम धारा का ही घोतन करता है किन्तु एक समय प्रायः इन्हीं शब्दों में महात्मा गांधी ने भी अपने

को व्यक्त किया था । और उनकी विचार प्रणाली का मूल 'स्कन्दगुप्त' के इसी कथन में है । 'विजया' स्कन्दगुप्त को निर्वृत्ति मार्ग से प्रवृत्ति मार्ग की ओर, संसार की ओर मुकाना चाहती है किन्तु निर्वृत्ति मार्ग परायण स्कन्द संसार में कार्य करता हुआ भी उससे विलग रहता है । केवल कर्म करना चाहता है क्योंकि "इसी पृथ्वी को स्वर्ग होना है, इसी पर देवताओं का निवास होगा, विश्वनियंता का ऐसा ही उद्देश्य मुझे विदित होता है । फिर उसकी इच्छा क्यों न पूर्ण करूँ ? विजया ! मैं कुछ नहीं हूँ, उसका अध्य हूँ, परमात्मा का अमोघ अध्य हूँ । मुझे केवल उसके संकेत अत्याचारियों के प्रति प्रेरित करते हैं । किसी से मेरी शत्रुता नहीं, क्योंकि मेरा निज की कोई इच्छा नहीं । देश ध्यापी इलचल के भीतर कोई शक्ति काम कर रही है, पवित्र प्राकृतिक नियम अपनों रक्षा करने के लिये स्वयं सज्जद्ध हैं ।" यही तो अवतारवाद के सिद्धांत का प्रतिरूप है । केवल अंतिम वाक्य में ही प्रसाद का चिंतन है उनकी नियति ने अपना रंग भर दिया है । रंग भरना मैं केवल इसी लिये कहता हूँ कि उसे आधुनिक रूप दिया है । "जब-जब धर्म का हास होता है इसी पवित्र प्राकृतिक नियम के अनुसार अवतार होता है ।"

'स्कन्दगुप्त' के कथन में जो परोक्ष या उसी को कमला 'अकेले और असहाय' स्कन्द को उद्दोघन करती हुई स्पष्ट करती है । गांधीजी के इतने अनुयायी, गांधारादी और समर्थकों के होते हुए भी मैं देखता हूँ, अनुभव करता हूँ कि गांधी अकेला है, असहाय है । उसमें एक गहन निराशा है । विश्व के छुल प्रणचों से, विश्व की हिंसावादिता और हिंसा-प्रेम से उसके अनुयायी, जो उसके साथ हैं, उससे पूर्णतः सहमत नहीं । उसके आदेश पर चलेंगे किन्तु उसको अधिकांश बातों को नहीं मानेंगे । क्योंकि हम उस महान आत्मा के स्वरूप, परमात्मपन तक पहुँच नहीं पाये हैं । हम उसे समझ नहीं पाये हैं ।

फिर भी प्रमादजी का महाशक्ति-केन्द्र उन्हें कमता के दृन शब्दों में विश्व के कर्म योग में वार-वार प्रेरित करता रहता है। “कौन कहता है कि तुम अफेले हो? समग्र संमार तुम्हारे साथ है। स्वानुभूति को जाग्रत करो। यदि भवित्वत मे ढरते हो तो तुम्हारा पतन ही समीप है, तुम उस अनिवार्य स्नोत से लड़ जाओ। तुम्हारे प्रचंड और विश्वास-पूर्ण पदाघात से विन्ध्य के समान कोई शैल उठ खड़ा होगा, जो उस विन्ध्य स्नोत को लौटा देगा। राम और कृष्ण के समान वया तुम भी अवतार नहीं हो सकते? ममझलो जो अपने कार्यों को हैरवर का कर्म समझने (महात्मा गांधी भी यही समझने और करते हैं) करता है, वही हैरवर फा अवतार है। उठो स्कन्द! आसुरी वृत्तियों का नाश करो, सोने वालों को जगायो, और रोनेवालों को हँसाओ। आर्यविं तुम्हारे साथ होगा और उस आर्य पताका के नीचे समग्र विश्व होगा। बीर।”

सृष्टि की और एक विचारक, चित्तक, दार्शनिक जब देखता है तब उसे इस सृष्टि में, प्रकृति में एक विचित्र भाग-दौड़ दिखाई देती

है। वह सृष्टि की कियाओं और प्रति कियाओं को सृष्टि के आंतरिक देखकर आश्र्य चकित हो जाता है, विचारने रूप का चित्तन लगता है। सोचता है यह सब क्यों और कैसे हो रहा है? वह देखता है नित्य सूर्योदय होता है। एक

विशिष्ट दिशा से, एक विशिष्ट पथ से वह नित्य ही उदय और अस्त होता है। चन्द्रोदयास्त होता है। सब देखते हैं पर अपनी आँखें फेर लेते हैं और अपने कार्य में जुट जाते हैं। सूर्य, चन्द्र, नष्टव्रादि की अलौकिकता एक संसारी पर कुछ प्रभाव नहीं ढालती, पर नित्य सृष्टि का क्रम चलता रहता है। परन यहता रहता है। समुद्र लहराता रहता है। सरिता बहती रहती है। पर्णी चहचहाते रहते हैं। बगीचे का पौधा नन्हे से बड़ा होता रहता है। एक कली खिलती और सुरक्षा जाती है।

फिर दूसरी फूटती है और उसकी भी यही दशा होती है । प्राणों का संचार और लय होता रहता है । प्राणी मरता और जीता है । एक संसारी जैसे इन्हें देख कर भी नहीं देखता । देखना नहीं चाहता, उसके पास समय नहीं, अवकाश नहीं । एक दार्शनिक इन्हीं से आनन्द भ्रह्म करता और विचारों में दूब जाता है । वह कहता है भाई विचारों सोचो, आनन्द लो । पर कोई सुनता नहीं । सब अपने-अपने मार्ग पर अपनी-अपनी गति से चले जा रहे हैं । चलते आये हैं, फिर चलते चले जायेंगे । पर क्यों ? यह सब दयों होता है ? अनादि काल से दयों होता था रहा है ? कौनसा आकर्षण है जिसमें सब जड़-चेतन अपने-अपने विचानुसार परिभ्रमण करते चले जा रहे हैं । विचारक सोचता है पर उसे कोई उत्तर नहीं मिलता । इन्हीं से चाहे वह क्षण भर आनन्द भ्रह्म कर ले अथवा विपाद में दूब जाय पर कोई उसे संतोष दिलाने-चाला नहीं । देह नेति-नेति कह थक गये । पुराणों ने विडंवनं फैला दी । विज्ञान अभी तक प्रारंभिक अवस्था में है । विज्ञान ने जानने की कोशिश की किंतु वह भी कृतकार्य नहीं हुआ । किंतु हो सब रहा है । होता आया है, होता जायगा । सृष्टि, लय, जीवन-मरण की समस्या कोई सुलझा नहीं पाया । सब कहीं से आये हैं, आते हैं, और कहीं चले जा रहे हैं; किंतु कहाँ से आये हैं, आते हैं, कहाँ जायेंगे, इसका पता इन आने और जानेवालों को भी नहीं पड़ता । स्वर्ग और नर्क की कल्पनाएँ कभी-कभी तो आनन्द अथवा भय का उद्ग्रेक कर देती हैं किन्तु आमा में रिंदती नहीं । सब प्रयत्नों के होते हुए भी आज के दार्शनिक का हृदय, अध्यात्म की आमा उसी रूप में है जहाँ सहस्रों वर्ष पूर्व थी । प्रसाद इसी प्रकार के चितन का सार, दारण्यायन धृषि के कतिपय वाक्यों में भर रहे हैं । बात पुरानी है किंतु प्रसाद जैसे सोने में सुगन्ध का संचार कर रहे हैं । “पवन एक क्षण विश्राम नहीं लेता, सिंधु की जल-धारा

यही जा रही है, वादकों के नीचे पत्तियों का गुण्ड उड़ा जा रहा है, प्रत्येक परमाणु न जाने किम धारुण में लिचे चले जा रहे हैं। जैसे काल अनेक रूप से चला जा रहा है।" "देखते हो कोई किसी की सुनता है। मैं कहता हूँ सिंधु के पक बिंदु ! धारा में न यह कर मेरी वात सुनने के लिये ठहर जा। यह सुनता है, ठहरता है?" कितनी मार्मिक उक्ति है। प्रसाद का कितना अभीर चिन्तन इन दो वाचयों में है?

भारत जब स्वतंत्र था, अपने भाग्य का आप ही विधाता था। तब भारत में उथल-पुथल होते थे। क्रांतियाँ हुई थीं। जिन स्वेजों पर से

अमेरिका और योरप के राष्ट्र अभी-अभी गुजरे राधों का ज्ञान-पतन हैं और गुजर रहे हैं भारत उनमें से सहस्रों वर्ष एवं कांति संवधी चिन्तन पूर्व ही गुजर चुका है। इसीलिये भारतीय-

साहित्य में जीवन के राष्ट्रों के, जीवन और मरण के, जातियों के उत्थान और पतनों के मर्म छिपे हुए हैं। वेद, महाभारत, केवल धार्मिक दृष्टि से ही हमारे पूज्य नड़ों हैं उनमें भारत के जीवन का स्रोत, मूल रूप, उसके उत्थान-पतन का विश्लेषण है जो वाद के साहित्य में फैल और बढ़ गया है। सुन्दर उज्ज्वल और भव्य हो गया है। उसके आधार, ज्ञान पर, उसकी नीति और राजनीति के बीज पर पाश्चात्य राष्ट्र ज्ञान-विज्ञान-वृक्ष दापन कर रहे हैं। और जर्मनी जैसा कि जन ध्रुति है इन्हीं के मर्मों से अवगत हो उनका समुचित सदृश्योग कर रहा है। यूरोपियन और अमेरिकन आर्य जातियों ने वही तो किया है जो "जनमेज्य के नागयज्ञ" में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को शादेश दिया था। पहिले अंक के पहिले दृश्य में मनसा ने मंत्रवल से जो दृश्य सरमा को दिखाया है। हम गीता पढ़ते हैं। पूजते हैं। वे श्री कृष्ण के दमन को ध्यवहार में, काम में जाते हैं।

इसी ज्ञान और धारेश पर प्राचीन आर्यावर्त में भी उथल-पुथल, क्रांतियाँ, युद्ध हुए। उनकी क्रांतियों के कारणों और संघटनों और विघटनों का विश्लेषण प्रसाद ने भी एक दार्शनिक दंग से अपनी नियति के आवरण में किया है। महर्षि व्यास के कथनों में वे बताते हैं क्रांतियों की प्रेरक शक्तिएँ कौन-सी हैं। 'नियति' अथवा परमात्मा शक्ति कैसे विश्व के संसुलन को ठीक रखा करती है। लोग तो केवल उस और उढ़ते जाते हैं जहाँ तक कि क्रांतिएँ हो न जायें। किन्तु महात्मा पुरुषों को वे पहिले से अवगत रहती हैं। वे अनुभव के द्वारा भविष्य को जानते हैं किन्तु घटनाओं को रोकने में अपने को असमर्थ पाते हैं। महर्षि व्यास का कथन है, "दंभ और अहंकार से पूर्ण मनुष्य अदृष्ट शक्ति के कीदा कंटुक हैं। अंध नियति कत्तृत्व मद से मत्त मनुष्यों की कर्म शक्ति को अनुचरी बनाकर अपना कार्य कराती है और ऐसी ही क्रांति के समय चिराट् का घर्गांकरण होता है। यह एक देशीय विचार नहीं है। इसमें व्यक्तित्व की मर्यादा का ध्यान नहीं रहता, 'सर्व भूत-हित' की कामना पर ही लप्त्य होता है।" "परमात्मा शक्ति सदा उरथान का पतन और पतन का उरथान किया करती है। इसी का नाम है दंभ का दमन। स्वयं प्रकृति की नियामिका शक्ति कृत्रिम स्वार्थ सिद्धि में रुकावट उत्पन्न करती है। ऐसे कार्य कोई जान बुझ कर नहीं करता, और न प्रत्यक्ष में उनका कोई घड़ा कारण दिखाई पड़ता है। उस उल्लट फेर को शांत और विचार शील महापुरुष ही समझते हैं, पर उसे रोकना उनके वश की भी घात नहीं है क्योंकि उसमें विश्व भर के हित का रहस्य है।" "किसी एक सत्त्व का कोई छुद्र औंश लेकर विवेचना करने से हूनका निपटारा नहीं हो सकता।"

इसमें संदेह नहीं बौद्धकाल के साहित्य के अध्ययन का यह प्रभाव पड़ा और उस प्रभाव के उस काल की रचनाओं में दिखाना भी प्रसाद

के लिये अनिवार्य था किंतु ध्यान से विचार करने प्रसाद के बौद्ध वार्तीन पर केवल दो तीन ही व्यक्ति हैं जहाँ प्रसाद ने चित्रण का बारग एवं कथोपकथन में प्रत्यक्ष बौद्ध दर्शन का सैद्धान्तिक स्तर

स्तर से वेदकाल से आज तक का इतिहास, मन्त्रा इतिहास, गुणित है। उनका मेयाकी मस्तिष्क युगों-न्युगों में विविध होता हुआ चला जाता है। इतिहास के गंगीरनम तथ्य एक चित्रपट के समान उनके सामने विछ जाते हैं। वे इन युगों की मूल और मेयाक भावनाओं को, उनके अपलो रूप को समझ लेते हैं, हृदयगम कर लेते हैं और इसलिये उनके नाटकों में वे अपने जैसे उसी अपली रूप में उत्तर आई हैं। प्रसाद तो जैसे 'कला के लिये कला' वाके कलाकार की भाँति अतग पढ़े हो जाते हैं और जिस युग का चित्रण हाथ में लेते हैं वह युग वैषा फा वैषा उनका विशाल अध्ययन युगों की तर्हों में, स्तर पर स्तर खोलता हुआ उनके दिमाग में उत्तारता चला जाता है। इसलिये बौद्ध दर्शन की शुरूता का अध्यवा दर्शन का उन पर विशेष प्रभाव पड़ा हो ऐसा में नहीं मानता। मेरे कहने का आशय केवल इतना ही है कि उन कालों का उनका अध्ययन है और चूँकि उनमें बौद्धकाल एक प्रमुख सङ्काद्वि घेरे हुए है इसलिये बौद्ध दर्शन से परिचिन होना, उस काल की भावनाओं का चित्रण करते समय बौद्ध दर्शन की शुरूता को सरसता में परिणत करना उनके लिये अनिवार्य था। कोई यहाँ यह प्रश्न उठा सकता है कि बौद्ध काल का ही चित्रण उन्होंने किया। माध्यमिक काल का सुस्तित्व काल का, आँग्ल काल का, अनुनिक युग का चित्रण उन्होंने किया नहीं किया। यात दर अपल यह है कि प्रसाद में भारतीयता, भारतीय गौरव, स्त्रतत्र भारत के गौरवमय काल का आदर्श फूट-फूट

कर भरा था । भारत मुझे ऐसा दिखाई देता है, वह भारत जिसके कारण प्रथेक भारतीय का सिर ऊँचा हो जाता है, उनकी नस-नस में, रक्त में समाया हुआ था । इसीलिये अपने को प्रकाशित करने का मार्ग जब वे ढूँढते हैं तब उन्हीं युगों के इतिहासों के पृष्ठों को खोलकर अपनी मनोवांछित वस्तु निकाल देते हैं । कहानियों और उपन्यासों में चाहे यह बात पूर्ण घटित न हो किन्तु नाटकों में तो शत प्रतिशत सत्य होती है । 'ध्रुव स्वामिनी' का उदाहरण हमारे समक्ष है । आधुनिकतम विचार उन्नर्विवाह और तलाक (मोहर) पर प्रकट करने के लिये भी उनकी यही प्रवृत्ति उन्हें गुप्त काल की ओर ही खींच ले गई ।

इसांलिये हम देखते हैं 'एक थूँट' और 'कामना' में उनका कवि ही सर्वोपरि नहीं है, कल्पना और काव्य उफन-उफन पड़ते हैं । 'विशाख', 'राज्यश्री', 'चन्द्रगुप्त', 'ध्रुव स्वामिनी', बौद्ध-काल की रचनाएँ होते हुए भी इनमें बौद्ध दर्शन की भलक नहीं मिलती । हाँ इस काल का यथार्थ चित्रण अवश्य मिलता है । एक स्थल पर 'जनमेजय का नाग यज्ञ' में, 'अजात शत्रु' और 'स्कन्दगुप्त' में अवश्य बौद्ध दर्शन का दुःखवाद, निराशावाद अपनी शुष्कता छोड़ कर और सरसता, काव्यत्व ग्रहण कर प्रयुक्त हुआ है । इन नाटकों में भी बौद्ध दर्शन नहीं है । प्रसाद का चित्रन है । वह मानवी और आधुनिकतम हो गया है । उसमें गौतम की मानवी कहणा तो है किंतु वह कहणा निर्वाये करनेवाली या कर्तव्य मार्ग से हटानेवाली नहीं है ।

बौद्ध दर्शन का वाल्य शुष्क रूप जो उमका थोड़े शब्दों में सार है वह धातुसेन (स्कन्दगुप्त) सिंहल के बौद्ध-धर्मी राजकुमार के इस कथन में आया है । इसे हम बौद्ध दर्शन का सूच कह सकते हैं । बौद्ध दर्शन को इतने थोड़े शब्दों में व्यक्त करना केवल प्रसाद का ही काम था ।

बहु सार है। “शदंकार मूलक था” मवाद का गंडन करके गौतम ने विश्वामवाद को नष्ट नहीं किया। यदि वैष्णा करने तो हृतनी करुणा की व्या आवश्यकता थी? उपनिषदों के नेति-नेति से ही गौतम का आत्म-वाद पूर्ण है। यह प्राचीन महर्षियों का कथित मिद्दांत, मध्यमा प्रतिपदा के नाम से संसार में प्रचलित हुआ। अक्षि रूप में आत्मा के सदृश कुछ नहीं है।” इस कथन से यह भी प्रकट होता है कि बौद्धदर्शन को उन्होंने हसिद्वास अध्यगत के प्रकाश में ही देखा है और बौद्ध-काल के पूर्वतिहास में उसकी स्थिति निश्चित की है। हमलिये प्रसाद पर बौद्ध-दर्शन का प्रभाव चतुर्वाना सुनिष्ठ-गुक्त प्रतीत नहीं होता, उनके नाटकों में वह उस फाल के अनुसार स्वयं आगया है।

बौद्ध और साथ ही लैन-दर्शन का भी एक और आंतरिक व्यापक वैराग्य पूर्ण निवृत्ति परायण मार्गवाला मिद्दांत है जो परमाणुओं के पृथग-पृथग परिवर्तन या उनकी उणिकता पर जोर देता है और इसी आधार पर जन समूह को वैराग्य का उपदेश देता है। मांसारिक क्षार्यों से हट कर आत्म कल्याण या सोहन प्राप्ति की चेटा करने के लिये अप्रसर करता है। एक लैन या बौद्ध संसार में लीन होते हुए भी इसी का राग अलापा करता है। इनके पुराणों और आरयानों में हम प्रकार की शब्दावली आवश्यकता से अधिक मात्रा में मिल गई है। माणवक (जन-मैजय का नामगत्त) अपनी स्थितिपर विचार करते हुए कहता है, “तुमने कभी शरद के विस्तृत व्योम मंडल में रुह के पहल के समान एक छोटा-सा मेघ खण्ड देखा है। उसको देखते-देखते विलीन होते या कहीं चले जाते भी तुमने देखा होगा। विशाल कानन की एक घन्जरी की नन्हीं सी पत्ती के छोर पर विदा होनेवाली श्याम रजनी के शोक-पूर्ण अशु-बिंदु के समान लटकते हुए एक हिमकण को कभी देखा है। और उसे लुप्त होते हुए भी देखा होगा। उसी मेघरुद के हिमकण

की तरह मेरी भी विलक्षण स्थिति है। मैं कैसे कह सकता हूँ कि कहाँ रहता हूँ और कबतक रह सकूँगा।

एक प्रसंग और है जहाँ प्रसाद ने सैद्धांतिक, धार्मिक विवेचन को महत्व दिया है। यह प्रसंग है। 'स्कन्दगुप्त' में जन बलि के लिये उत्सुक प्राणणों और पशु के प्रण ध्वनेवाले धौद्वों में भगवा हो रहा था। धातुमेन और प्रख्यातकीर्ति दोनों वौद्व धर्मविलम्बी हैं। प्राचीन वेदोक्त और उपनिषद्काल की दार्शनिकता और भगवान वौद्व के सन्देश का सामंजस्य करते हैं। धातुमेन कहता है, "धर्म समयानुकूल प्रत्येक प्रिवर्तनों को स्वीकार करता है; क्योंकि मानव-वृद्धि ज्ञान का—जो वेदों के द्वारा हमें मिला है—प्रस्तार करेगी उसके विकास के साथ बढ़ेगी; और यही धर्म की थ्रेष्टा है।" प्रख्यातकीर्ति दोनों समाज के अंध भक्तों को धार्मिक प्रचारकों के सन्देश को समझाता हुआ कहता है, "मनुष्य अपूर्ण है। इसलिये सत्य का विकास जो उसके द्वारा होता है, अपूर्ण होता है। यही विकास का रहस्य है। यदि ऐसा न हो तो ज्ञान की वृद्धि असंभव हो जाय। प्रत्येक प्रचारक को कुछ न कुछ प्राचीन अस्त्य परम्पराओं का आश्रय इसीसे ग्रहण करना पड़ता है। सभी धर्म, समय और देश की स्थिति के अनुसार विवृत हो रहे हैं और होंगे।"

इसके अतिरिक्त दर्शन-दर्शन नहीं रह जाता है। उसे किसी विशेष दर्शन की सीमा में न घेर कर केवल प्रसाद का ही चिन्तन और काव्यत्व की पराकाष्ठा मानना चाहिए। वह शुष्कता त्याग कर मानव-चिन्तन काव्योचित सरसता, मार्मिकता, विदग्धता, समोहन और एक अलौकिकता प्राप्त कर लेता है जिस पर महाकवि प्रसाद का सरस सौंदर्य, उद्वाम यौवन, शंगारिकता, मानव-जीवन, खोत में बढ़नेवाले रसों के पारखी प्रसाद का एक छुत्र अधिकार है। नाटकों में ऐसे स्थल (यहाँ हमारा विचारणीय विषय नाटकों की अभिनाटकों

नष्ट योग्यता का विवेचन नहीं है) यड़े सुन्दर हो उठे हैं। इन स्थलों पर दर्शन ने चिन्तन के रूप में काव्य से सम्बन्ध स्थापित कर लिया है। वह काव्यों में नारी जैसे नर में आत्मसात् कर देती है वैसे समा गया है। दर्शन और काव्य जैसे Conical ways में उठने-उठते चिन्तन की विन्दु पर एक रस हो गये हैं। ये स्थल विभिन्न विखरे हुए गद्य-गीत हैं। इन गद्य-गीतों का पृथक् संकलन एक सुन्दर कला पूर्ण गद्य-काव्य-ग्रन्थ हो सकता है। प्रसाद का कवि जो अन्यत्र प्रकट नहीं हो पाया था केवल थाँसु को छोड़ कर और वाद में 'कामायनी' को छोड़ कर नाटकों में छलक-छलक पड़ता है। चिन्तन की ये बूँदे मधु-मत्तिका का शहद भारदार हैं। जैसे मधु-मत्तिका प्रत्येक पुष्प से केवल रस ही रस ग्रहण कर उसे एकत्र करती है वैसे ही प्रसाद की प्रतिभा ने इतिहास के युगों से दार्शनिकता पूर्ण अध्ययन के कण इकट्ठे किये हैं। और उनके काव्यस्व ने, कवि ने, अपने सरसता, सहदेयता के कोष्ठों में हन्हें संचित कर उनमें मधुरता का सार भर दिया है। दर्शन और अध्ययन के ये कण दार्शनिकता और ऐतिहासिकता को ल्याग कर मानविकता को, मानवी कहणा को ग्रहण किये हुए हैं। मानवता, विश्व-वन्धुत्व का, प्राणीमात्र की स्वतंत्रता और सुख का, भारतीयता, भारतीय-संस्कृति की श्रेष्ठता और विश्व के पथ-प्रदर्शन का संदेश देते हैं। इस नाटक लेखक के कवि का अगु-अगु रस से भरा पड़ा है। उसने वह निःसंकोच और मुक्त हृदय से नाटकों में उँड़ेल दिया है।

'कामना' और 'एक धृट' की तो सारी की सारी रचनाएँ काव्यमय हैं। इसी प्रकार कोमा और मिहिरकुल (ध्रुव-स्वामिनी) के कथन दर्शन और काव्य के सम्मिश्रण।

‘सृष्टि की रचना और उसके उद्देश्य के सम्बन्ध में प्रसाद की आदर्श कल्पना क्या है वह मणिमाला के निम्न उद्भूत कथन में मिलती है।

इसमें उसका दर्शन है, कल्पना है, काव्य है, काव्य-सौंदर्य है । सरसता है । यह एक गथ-काव्य है । प्रसाद के प्रकृति साहचर्य का भी इससे पता लग जाता है कि कितनी उसमें उनकी वृत्तिएँ तब्बीन हो जाती थीं और आनन्द ग्रहण करती थीं । निम्न स्रोतस्वनी नील 'वनराजि', 'कोकिल' और 'अंगराग' सदृश भाव कोमल शब्दों के साथ वे दर्शन में सरसता उत्पन्न कर उसे काव्य बना डालते हैं । मणिमाला (ज० का ना०) कहती है, "मुझसे तो मानो कोई कहता है कि महाशून्य में विश्व इसीलिए बना था । यही उद्देश्य था कि वह एक स्रोतस्वती की तरह नील वनराजि के वाच, यूथिका की छाया में वह चले; और उसकी मृदुवीचि से सुरभित पवन के परमाणु आकाश की शून्यता को परिपूर्ण करें ।" आस्तीक पृछता है, "वहा सुम कोई स्वप्न सुना रही हो ?" तब

मणिमाला—"भाई, यह स्वप्न नहीं है, भविष्य की कल्पना भी नहीं है । जब सन्ध्या को अपने श्याम अंग पर तपन रश्मियों का पीला अंगराग लगाये देखती हूँ और फिर उस सुनहले शून्य में बसन्त की किसी कोकिल को गाते हुए, उड़ाते हुए देखती हूँ, जब हृदय में जो भाव उत्पन्न होते हैं वे स्वयं मेरी समझ में नहीं आते । किन्तु फिर भी जैसे कोई कहता हो कि उस सुदूरवर्ती शून्य त्रितिज के प्रत्यक्ष से उस कोकिल का कोई संबंध है, और वह सम्बन्ध तभी विदित होगा जब शून्य पर फिर कालिमा के आवरण चढ़ने और कोकिल की बोली का अर्थ समझ में आ जायगा ।"

आस्तीक—"वयों मणि, यह सब क्या है ? इसका कुछ तात्पर्य भी है या केवल कुहक है ? इन मांस पिंडों में वयों इतना आकर्षण है और कहीं-कहीं क्यों हसके ठीक विपरीत है ? जिसको स्नेह कहते हैं, जिसको प्रेम कहते हैं, जिसको वात्सल्य कहते हैं । वह वयों कभी-कभी

चुम्बक के समान उसके साथ के लिपु दीड़ पड़ता है, जिसके साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं ? और नहाँ उसका उद्भव है, चहाँ से क्यों संपर्क नहीं रखता ।” ॥

भारत की पूर्व गौरवमय स्थिति की कितनी सुन्दर, कथ्यमय, सुकुमार कल्पना है, “भावना की प्राप्ति और कल्पना के प्रत्यक्ष की यह संगम-स्थली हृदय में कुछ अक्यनीय आनन्द, कुछ विलक्षण उल्लास उत्पन्न कर देती है । द्वेष यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते थक कर मार्ग में ही कहीं सो गया है । कहणा आतिथ्य के लिये बन लघमी की भाँति आगतों का स्वागत करती रही है । इस कानन के पत्तों पर सरलता पूर्ण जीवन का सच्चा चित्र लिखा हुआ देख कर चित्त-चमत्कृत हो जाता है ।”

मालविका (चन्द्रगुप्त) के इस कथन में कि “फून हूँसते हुए आते हैं, फिर मकरन्द गिरा कर मुरझा जाते हैं, आँसू से धरणी को मिलोकर चले जाते हैं । एक स्त्रिय समीर का झोंका आता है, निश्वास फेंक कर चला जाता है । क्या पृथ्वी तल रोने ही के लिये है ? नहीं सबके लिये एक ही नियम तो नहीं । कोई रोने के लिये है तो कोई हूँसने के लिये ।”

जीवन-मरण और सांसारिक सुख-दुःख का कितना गम्भीर, पूर्ण सत्य इस कथन में सन्निहित है । विशेषकर प्रथम अंश ‘अध्रिले फूलों’ पर ही पूर्ण रूप से घटित होता है । जो ‘विना खिले ही मुरझा जाते हैं’ वे एक ज्ञानिक आनन्द, एक ज्ञानिक उल्लास, एक ज्ञानिक स्त्रियता दे जाते हैं और फिर सदा के लिये उसी महाशून्य में मिल जाते हैं । मानव-जीवन तो ऐसा ही है । महाकाल में काल की अनन्त अवधि में उपका पाँच, दस, पचास, सौ, दो सौ वर्षों का जीवन क्या अर्थ रखता है । ऐसे ही संसार के दो भाग हैं । केवल दो भाग हैं । उसमें

केवल दो श्रेणियें ही हैं। दो जातियें हैं। एक श्रेणी उनकी है जो हँसने-चाले हैं और दूसरी उनकी जो रोनेवाले हैं। हाँ, संसार की संसृति में नियतिवश कभीकभी यह अवश्य देखा जाता है कि हँसनेवाले रोनेवालों के बर्ग में आ जाते हैं और उन्हें रोना पढ़ता है और हसी प्रकार रोनेवाले हँसनेवालों में पहुँच कर हँसने और हठलाने लगते हैं। अपने रोदन को भूल कर रोनेवालों पर भी हँसने लगते हैं और यही तो संघर्ष है जो आज के विश्व को मध्य रहा है। हँसनेवालों की संख्या उँगलियों पर गिनी जा सकती है। वे यह नहीं सोचते कि पृथ्वी के पृष्ठों पर रोनेवालों का भी अस्तित्व है। उन्हें जीवन धारण करना है। जीवन धारण के लिए स्वास्थ्य और रक्त की जरूरत है और वह अब, पानी, हवा से मिल सकता है। कतिपय हँसनेवालों की श्रेणी के लिये प्रायः समस्त रोनेवालों को कितनी वेदनाओं का सामना करना पढ़ता है; वे नहीं जानते। संसार के ग्राम्य में, सभ्यता के स्वर्ण युग के पहिले इससे उनकी उच्च स्थिति थी। तब हँसनेवालों की ही संख्या थी। धीरे-धीरे सभ्यता के विकास के साथ उनकी संख्या का तो जल्दी-जल्दी हास होने लगा और आज हम जब सभ्यता की उच्च कोटि पर, चोटी पर बैठ कर भविष्य आदर्श के अनन्त आकाश पर दृष्टिपात करने का साहस कर रहे हैं तब रोनेवालों की संख्या कितनी अधिक चढ़ गई है कि देख कर जग-जियन्ता को भी यदि वह है तो लज्जा से सिर मुका लेना पड़ेगा।

मानवता न आज केवल पराजित हो रही है किंतु वह एक उपहास की वस्तु हो गई है। बीसवीं शताब्दी से हमने आशा की थी कि वह नवाविष्कारों, नवीन अन्वेषणों से मानव का पथ प्रशस्त करेगी। खीं को पराधीनता से मुक्ति, पुरुष को गुलामी से मुक्ति, पराधीन राष्ट्रों एवं देशों को उनके शोषकों से मुक्ति देगी। विश्व में समता और शान्ति का राज्य होगा। स्वतंत्र विचारधाराएँ उन्मुक्त होकर विश्व-कल्याण करेंगी।

उन्नीसवीं शताब्दी को अपनी आमजा वीसवीं शताब्दी से और भी कही आराएँ थी। उन्नीसवीं शताब्दी का मानव दानव से हरीलिए लड़ रहा था कि दानव के पतन पर उसे देव-दर्शन होंगे किंतु आज दानव का स्थान एक महादानव, एक कुत्ता, एक कृत्या, एक अतृप्त पिपासा ने ले लिया है और मानव को अपनी हृदय का खेल समझ लिया है। उन्नीसवीं शताब्दी में हम कह सकते हैं इतना प्रकाश नहीं था जितना आज है, किंतु उस जीण प्रकाश में भी, अन्ध-ईश्वर-भक्ति के जमाने में भी, मानव दानव नहीं हो गया था। वह अद्वालु था। द्वालु था। मानव सहानुभूति से परिचित था। उसमें दुगुण थे किंतु महानाशकारी कुप्रवृत्त तर्ह उससे दूर थीं। पर आज हमने सम्प्रता, प्रकाश, विज्ञन, ज्ञान-विस्तार के युग में जैसे सदृश्यतियों को एक दम ही तिजाझलि दे दा है। पश्चिमिक सभ्यता का पूर्णानुभव कर रहे हैं। हम आज सुख यार दुखों का भी क्रय-विक्रय करने लगे हैं। पहिजे धन श्रेष्ठ था तो आज भी धनी, केबटरियों और मिलों का स्वामी श्रेष्ठ है। वह आज मानवता को कुचल सकता है। देवत्व की हँसी उड़ा सकता है। रात्रि को गले लगा सकता है। आज विश्व-क्षेत्राण, निघल राष्ट्रों की स्वतंत्रता एक Mockery है। आज के युग ने तो हमें हस परिस्थिति में डाल दिया है कि “जन्म-सिद्ध तो कोई भी अधि कार दूसरों के समर्थन का सहारा चाहता है।” (अज्ञात) संसार भर में विद्रोह, संघर्ष, हत्या, अभियोग, पड़ूयन्त्र और प्रतारणा है। (अज्ञात) आज मानव-मानव, राष्ट्र-राष्ट्र, देश-देश में विश्वास नहीं। मित्रता नहीं और है तो वह भी कुचिम, दिखाऊ। एक समय मनुष्य का मनुष्य पर हड़ विश्वास था उसमें से मानवता का हास नहीं होता था। किंतु आजनो यह नहीं कहा जा सकता कि “मानव कब दानव से भी दुर्दन्त, पशु से भी बर्बर और पश्चर से भी कठोर, कस्ता के लिये निरवकाश हृदयवाला हो जायगा।”

नारी स्वातंत्र्य और संभवान की आवाज आज हमने खूब बुलंदकर रखी है पर भविष्य ही विचार करेगा कि इसमें अनुस आकांक्षा और वासना का कितना मिथ्या हो गया है ? किंतु पाठक विचार करें कि विवाहित लियों के संबंध में प्रसाद की इस उक्ति में कितना गम्भीर सत्य समाया हुआ है कि वे हैं “धनियों के प्रमोद का कदा छँदा हुआ शोभा वृक्ष । कोई डाली उल्लास से आगे बढ़ी कुतर दी गई । माली के मन से सँवरे हुए गोल मठोल खड़े रहो । ” यही तो है न नारी जीवन । क्या पौर्वार्थ और क्या पाश्चात्य ?

अब प्रसाद का मानवता का जो आदर्श है उस पर हम विचार करें । उनकी दृष्टि में साधारण तौर पर मनुष्य एक प्राणी है और इस-त्तिष्ठ वह एक पशु है । विचारशीलता ही उसमें एक ऐसा तत्व है जिसके कारण हम उसे मनुष्य संज्ञा देते हैं और वही जब स्वार्थ स्याग कर सांसरिक कर्मों में प्रवृत्त होता है तब वह द्रेवत्व के उच्च स्थान पर अधिष्ठित हो सकता है । “मनुष्य साधारण धर्मा पशु है, विचार शील होने से मनुष्य होता है और निस्त्वार्थ कर्म करने से वही द्रेवता भी हो सकता है । ” यथार्थ में यही तो बात है तभी तो मानव का पशु जब उसमें उबल-उबल पड़ता है तब वह वर्वर हो उठता, उसका मनुष्यत्व उसे छोड़ जाता है । जहाँ उसमें विचारशीलता आठी है वहाँ फिर उसका मनुष्यत्व अपने स्थान पर वापिस लौट आता है । निस्त्वार्थ कर्म करनेवाले पुरुष को हम देवदयों कहते हैं ? यह संसार बड़ा कुटिल स्वार्थी है । मनुष्य का वश चले तो वह मनुष्य को खा जावे । जहाँ वह शक्तिशाली है वहाँ वह यही कर रहा है । पूर्ण निस्त्वार्थ मनुष्यों का मिलना दुष्कर हो गया है । ऐसी अवस्था में अपने हितों को, अपनी वासनाओं को, अपने पिय, घी, सन्तानों को, धन का प्राणों का मोह स्याग जो मानव-मानव के लिये, उसकी सहायता और सेवा के लिये

कटि बद्ध हो जाता है वह देव नहीं तो फिर क्या है ? देवत्व हमारी एक कल्पना हो सकती है जैसा प्रसादजी भी मानते हैं। ऐसे महा पुरुष के लिये केवल श्रद्धालु लिंग ही हम देव महादेव अथवा अवतार कहकर अपने को ध्यक्त कर लेते हैं नहीं तो ऐसे परोपकारी, निस्त्वार्थी सज्जन संसार में प्रायः कठिनता से मिलते हैं। यहीं “जिसे काल्पनिक देवत्व कहते हैं—वहीं तो समूर्ण मनुष्यता” के हमें दर्शन होते हैं। जब इस में यहीं समूर्ण मानवता नाम्रत होगी तब ही हम प्रसाद के इस आदर्श पर कि ‘विश्व भर में एक कुटुम्ब स्थापित और मानव मात्र-त्वेह परिपूरित हो’ पर पहुँच सकते हैं।

चूँकि प्रसादजी की प्रवृत्ति हास्य-विनोद की ओर नहीं थी इसकी मनुष्य व्यञ्जना उनकी नाट्य-कला में दिखाई नहीं देती। एक व्यंग, व्यंग की तीव्रता, मार्मिकता तो उनमें मिलती है, हास्य-विनोद कितु यह गंभीर है, हास्योत्पादक नहीं। हास्य का तो प्रायः सर्वथा अभाव है। हाँ शिष्ट सदाचार पूर्ण सम्प्रोचित, अवलुप्ति विनोद अवश्य है। वह कहीं-कहीं पाचीन परिपाठी पर और कहीं-कहीं अस्पष्ट भी हो गया है। अस्पष्ट तो इतना भी कि उससे विनोद की उद्भावना ही नहीं होती। हास्य-विनोद का संपर्क जीवन की सरल, त्रिखण्ड, मोटी भूलों युक्त, कलह, विवाद, विचित्र-विचार, विशिष्ट व्यक्तियों की विशिष्ट आदतों, अभ्यासों, बोलने के दर्ग, भाषा आदि से परिपूर्ण घटनाओं, वकोक्तियों से रहता है। इसका संवंध जीवन के हल्लेपन से भी रहता है। इसमें कल्पना को प्रायः स्थान नहीं मिलता। आधुनिकता का, आधुनिक पात्रों का ही मुख्य भाग रहता है। इसीलिये कल्पना के धनी प्रसाद में यदि हास्य-विनोद की ज्ञीण, अस्पष्ट रेखा मिले तो कोई आश्चर्य नहीं। उसमें यदि अकृत्रिमता प्रकट हो तो प्रसाद को दोषी मान लेना उचित नहीं।

‘सज्जन’ में प्राचीन परिपाटी चाला हल्का, बालकोचित हास्य है । इसीलिये उसमें स्पष्ट और अधिक हास्य की सृष्टि होती है । ‘प्रायशिचित’ सदृश रचना में हास्य के लिये कोई स्थान ही नहीं था अतएव उसमें वह नहीं मिलता । ‘विशाख’ का हास्य पुराना मालूम पड़ता है और वह हतना साधारण हो गया है कि रोचक नहीं रह गया है । ‘सज्जन’ और ‘विशाख’ दोनों में संस्कृत-नाटकों में प्रयुक्त विदूपकों द्वारा ही हास्य की योजना की गई है, किन्तु जहाँ प्रथम में व्यंग, वकोक्ति के कारण उसमें चमक आ गई है वहाँ द्वितीय में पेटू विदूपक की साधारण बातचीत में कोई आकर्षण नहीं रह गया है । “अन्नातशत्रु” सदृश काष्य, कल्पना, विचार-गांभीर्य, दार्शनिकता पूर्ण नाटक में वेचारे हास्य को स्थान कहाँ मिल सकता था ? इसीलिये वह इसमें एक कोने में दबा पड़ा है । प्रसादजी ने इसमें हास्य की सृष्टि के लिये वसन्तक वैद्य को चुना है । इसलिये हास्य-वैभिन्न्य तो मिलता है किंतु ‘रेचक’, ‘मूरखता का पुर्यपाक’ और “बुद्धि का अनीर्ण” द्वारा जो हास्य है उसे हास्य न कहकर विनोद के कुछ कण कहना ही उपयुक्त होगा । ‘कहणालथ’ कहणा का आलय है । अतुकांत कविता-प्रदर्शन है । इसमें भी हास्य का रहना अलंभव था । हास्य के कुछ छींटे ‘ननमेनय का नागयज्ञ’ में त्रिविक्रम और दो विद्यार्थियों द्वारा ‘वेद’ और उसकी ‘शाखा’ में शिष्ट, सुन्दर रूप में और ‘कृष्णज्ञुन-युद्ध’ नाटक के समान आ गये हैं । ‘एक घूंट’ के चंदुला में हास्य की विज्ञापन-संवंधी नवीनता है । ‘एक घूंट’ का हास्य जिन विचारों के ढंग पर लिखा गया है उन्हीं के अनुरूप है । है किंतु वह भी विनोद पूर्ण । हाँ ‘कामना’ का हास्य आधुनिक और तीजा हो गया है जिसमें पाश्चात्य आधुनिक वास्त्र अनुकरण के प्रति एक तीव्र व्यंग है । ‘राज्य श्री’ में विनोद की बड़ी ही मधुर, सरस, आकर्षक, सरल, गतिपूर्ण, सुंदर व्यञ्जना है ।

‘स्कन्दगुप्त’ में भी शिष्ट, राजोचित, सृदुल हास्य-विनोद की योजना है किंतु है वह भी अत्यल्प ही। सिंहलकुमार धातुसेन की प्रकृति विनोदमयी सृजित करके हास्योत्पादकता की रक्षा की गई है। सुदूरगल में भी लोचिदूपक है और जिसके द्वारा हास्य और मनोरंजन को स्थान मिलना चाहिए था हास्य के केवल कुछ कण ही हैं, व्यंग्य ही अधिक है। वास्तव में हास्य की सुषुप्त योजना प्रसाद में नहीं मिलती, यह सकारण है। ‘चन्द्रगुप्त’ में भी हास्य को स्थान नहीं मिला है। वास्तव में बात यह है कि प्रसाद अपने अध्ययन, मनन में, अपने इष्ट और प्रस्तुत विषय में इतने लीन हो जाते रहे होंगे कि अपने लचय के समान उन्हें और कुछ दिखाई नहीं देता होगा। भारत के जिन युगों का चित्रण करना उन्हें अभीष्ट था वे संघर्षमय रहे हैं। ‘चन्द्रगुप्त’ भी संघर्ष-प्रधान नाटक ही है। इसलिये उन कालों में हास्य की योजना करना और किर आज की इस पद्धति के द्वारा कि हास्योत्पादक पात्र भी कथा वस्तु के ही अंग हों, उनका चरित्र भी, व्यक्ति उससे भिन्न न हों, बड़ा कठिन है। इसीलिये प्रसाद इस प्रकार की योजना करना चाहते होते तो भी न कर सकते। आज के भारतीय-साहित्य में भी हम देखते हैं हास्य की योजना बड़ी कठिन मालूम पढ़ती है, योजना हो ही नहीं रही है। यह तो सुख-भ्वातंत्र्य-युग की देन है। आज यह है नहीं तो उसकी योजना कहाँ से हो ? असहयोग आन्दोलन के पहिले जिन्होंने सोचा, मस्तिष्क को हास्य की ओर लगाया जैसे जी० पी० श्रीवास्तव तो वे कुछ किसी भी प्रकार हास्य अवश्य लिख रहे हैं, लिखा है। इसी प्रकार आन्दोलनों-असहयोग एवं सत्याग्रह- की गति जब मन्द पश्चि तो कुछ कुछ हास्य-विनोद के छींटे विखरे हुए दिखाई दिये, यहाँ तक कि नेताओं और कांग्रेसमेनों को देश-व्यापी आन्दोलनों से पृथक् रह कर तमाशा देखने-वाले साहित्यकों ने अपना लघ्य बनाया। हास्य में सामाजिक योजना

हम देखते हैं अभी तक हमारे यहाँ नहीं हुई हैं। धरनड़ शॉ वर्गरह में जैसे सामाजिक प्राणियों की, भाषा, भाव, वेश-भृपा कामनाओं, विवाहादि की इच्छाओं को, दैनिक गार्हस्थ्य-जीवन की घटनाओं को लेकर जैसी हास्य की योजना रहती है वैसो न हमारे यहाँ हैं और न अभी कुछ समय तक दिखाई देगी। हमने जीवन को अभी ऊपर से ही देखा है। हमारे समाज की, देश की कहाणा ही देखी है। समाज की तह में मुख्यतः यही है इसलिये यही दिखाई देती है। उसकी सूखमता तक पहुँच कर हाथ-योजना बरना, व्यक्तियों को लेकर हास्य-विनोद की, ध्यन्य की सृष्टि करने का समय अभी हमारे लिये दूर है।

दिशोपकर उर्दू के लेखकों में, प्रेमचन्द, सुदर्शन आदि में हास्य की ज्ञो यथार्थ योजना मिलती है वह मुख्य समाज की विशेषता है। इसका कारण यह है कि प्रायः मुख्यमान इन आन्दोलनों से दूर रहे हैं, स्वयं में मरत रहे हैं। उनकी जातीय प्रवृत्ति भी इसी प्रकार की है। एक बात और वह यह कि उनमें चितन की एक साधारण स्थिति ही थव तक पाई जाती रही है। प्रे सब चारों हास्य-विनोद और मनोरंजन के उपयुक्त और उनकी सूजन करनेवाली हैं। अतएव उस साहित्य में थथवा उस प्रकार के साहित्य में वे मिलती हैं। दक्षिण भारत के निवासियों में भी, जहाँ तक मैं समझ सका हूँ, यही प्रवृत्ति कुछ अंशों में जातीय रूप में पाई जाती है और इसीलिये दक्षिण भारत के साहित्य में यह प्राप्त होती है। बंग साहित्य में भी हास्य की उच्चकोटि की योजना के न मिलने का भी यही जातीय कारण है। भावुकता अधिक होने के कारण इनके साहित्य में भावुकता अधिक मिलती है। कहने का आशय यह कि प्रसाद में हास्य की योजना अस्यतप होने का यही प्रक देशीय कारण है।

नाटकों के लिये नृत्य एवं गीत अथवा संगीत की विशेष आवश्यकता तो नहीं किन्तु इनका प्रयोग अति प्राचीन काल से प्रेक्षकों की मनोरंजनी

वृत्ति ले उनमें स्वभावतः पाई जाती है की तृप्ति के जटिकाल्पन्तर्गत गीत लिए होता रहा है। आज भी भारतीय साहित्य में

हो रहा है नथा पाश्चात्य नाटकों में नहीं तो रंग-रंचों पर, सिनेमाओं पर इनका प्रयोग होता ही है। वास्तव में नाट्य-रथा वस्तु से इनका कोई विशेष संबंध नहीं है। संबंध तो वेश्या या आयतवृत्ति या प्रवृत्तिवाले पात्रों से ही होता है और ऐसे पात्रों की नाटकों में सृष्टि कर मनोरंजनी वृत्ति की तृप्ति के लिये एवं प्रेक्षकों को सात्त्विक विराम देने के लिये कभी-कभी आवश्यक भी हो जाता है। और यहीं तक इनका प्रयोग वाञ्छनीय भी है। समयाभाव अथवा नाट्य-कथा वस्तु में विस्तर होने के कारण प्रायः इनका अभाव उचितसा जँचने लगा है। चरित्र-चित्रण का जो हस्त युग की मुख्य वस्तु है हस्ते संबंध न होने के कारण भी इनकी ओर कम ध्यान दिया जाता है। मुख्य प्रवंधक भी गायनादि में मंशोधन अथवा परिवर्तन करता ही है, यदि लेखक विशिष्ट सिद्ध हस्त, अनुभग या प्रष्टपात न हुआ तो। यतः नाटक लेखक यदि गायन की ओर ध्यान न दे तो कुछ हानि नहीं ॥

प्रसाद ने जो अपने नाटकों में गीत-प्रवेश किया है वह किसी विशेष उद्देश्य या धारणा को लेकर नहीं किया है। इनका प्रवेश एक तो उनकी काव्य प्रवृत्ति के बश, दूसरे अनुकरण के कारण तथा तीसरे निरुद्देश जान बूझ कर हुआ है। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि नाटकीय प्रतिभा से उनकी काव्य प्रतिभा का विकास पहिले ही अच्छी तरह हो गया था और इनका यही कम अंत तक बना रहा। हाँ चन्द्रगुप्त एवं ध्रुवस्वामिनी में अवश्य दोनों कलाएँ समकक्ष सो दिखाई

देती है। काव्य-प्रतिभा तो प्रौढ़ता के कारण एवं नाटकीय प्रतिभा सिद्ध हस्ततौ के कारण प्रायः एक ही समेव्य कोटि की हो गई हैं।

'सज्जन' में जो उनकी प्रथम नाट्य कृति है, उनकी नाटकीय प्रतिभा तो बाल और प्रारंभिक रूप में है किंतु उनकी कविताएँ काफी अच्छीं, विकास की सूचक एवं नाटकीय प्रतिभा से अधिक प्रौढ़ हैं; यद्यपि संस्कृत एवं पूर्व भारतेंदु एवं भारतेंदुकाल के नाटक-लेखकों एवं अनुवादकों के अनुकरण पर ही उनमें इनका प्रशोग हुआ है। उनमें व्रजभाषा पन भी आ गया है। किंतु 'विशाख' से 'सज्जन' का कम एकदम ही बदल गया है। आधुनिक नाटक प्रणाली की दृष्टि से, बड़ा होने के कारण ही वह पहला नाटक भी माना जाना चाहिये क्योंकि 'सज्जन' और 'शायश्चित' तो उनके सर्वेथा बाल प्रयत्न ही हैं। 'विशाख' में मंगल-चरण और भरत वाक्य के सदृश कविताओं के साथ ही पारसी रंगमंचों एवं प० बद्रीनाथ भट्टके ढंग की शैरवानी के समान कविताएँ भी हैं किन्तु उनमें उद्दूपन न होकर हिंदीपन और भारतीय सांस्कृतिकता है। केवल कहने का ढंग व लहजा उद्दुंधाना है।

'विशाख' से ही उनकी 'विश्व-मंगल-कामना' एवं नाटकोचित तथा दार्शनिकता पूर्ण कविताओं का भी प्रारंभ हो जाता है यद्यपि इनमें गहनता एवं पूर्ण रस परिपाक की कमी रह जाती है। दार्शनिकता भी साधारण भ्रमणकारी साधुओं की है जिसके चित्तन की स्थिति उच्च नहीं। प्रसाद के गहन काव्य चित्तन एवं दार्शनिकता के चिन्ह भी 'विशाख' की कविताओं से ही मिलने लगते हैं। इसकी कृतिपय कविताएँ शीतिकाल की शृंगारिकता, रूप-वर्णन को भी लिए हैं जिनमें आवरण, शैली आधुनिक है।

'करुणालय' गीत-काव्य तो क्या, एक पद्यबद्ध कथानक है। अनुकांत छुँद हैं। मार्मिकता काव्यगत् न होकर कथागत् है।

कविता की यही प्रगति 'जनसेजय का नागयज्ञ' और 'कामना' में भी दिखाई देती है। हाँ 'एक-धूट' में कवित्व की और 'अज्ञातशंखु' में कवित्व एवं दार्शनिकता की मात्रा अधिक है। 'राज्य श्री' में पुनः वित्त का सुन्दर, प्रान्जल, प्रसादगुण भमन्वित रूप मिलता है किंतु चितन की तइ उत्तरी ऊँची नहीं हुए हैं जितनी 'चन्द्रगुप्त' एवं श्रुत-स्वामिनी में है। वास्तव में इन पिछले दो नाटकों में काव्य, कला, दर्शन, चितन, राष्ट्रीय भावना एवं संगीतका सुन्दर सामर्ज्य हुआ है। ये सब गुण 'स्कंदगुप्त' में भी मिलते हैं किंतु कम मात्रा में।

अपने पहले के नाटकों में तो प्रसाद साधारण नाटकीय रूपरा द्वारा गीतों को लाये हैं, स्थ्य की नाट्यकृतियों में दार्शनिकनायुक्त काव्य के प्रदर्शन के लिये तथा अंतिम नाटकों में केवल कला—नाट्यकला नहीं—और काव्य के सुन्दर और भव्य रूप के लिये।

इनके उपयोग का एक कारण ज्ञात होता है। प्रसाद यह सोचते होंगे कि अभी हिंदी के रंगमंच तो हैं ही नहीं, अभिनय की दृष्टि से इन पर विचार—आलोचना भजे ही की जावे किंतु मेरे नाटकों का उपयोग पठन के लिये ही अधिक होनेवाला है, हो रहा है। ऐसा हुआ भी। अतपूर्व उन्होंने अपनी काव्य प्रवृत्ति को नाटकों में स्वतंत्रता से आजाने दिया। अच्छी से अच्छी रचनाओं में भी परिवर्तन और संशोधन की आवश्यकता होती ही है अतपूर्व जब इनके अभिनय का समय आवेगा तब संशोधन एवं परिवर्तन सहित वे खेल, लिये जावेंगे। इसलिये नाटकों के साथ उनकी नाटकान्तर्गत कविताओं की विचार धाराओं पर ही विचार करना उचित है। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिये कि अधिकांश कविताएँ संगीताध्ययी हैं। गीत हैं।

'प्रसाद' ने इनका वहुलता से प्रयोग किया है और इनमें उनका काव्य कूट-कूट कर भरा हुआ है। इनमें भाव-विभोरता, 'प्रसाद' जी की समस्त काव्य-विशेषताएँ भी अंकित हो गई हैं। 'प्रसाद' ने जानवृक्ष कर अपनी भाव-लहरिएँ इनमें आ जाने दी हैं। अतः उन पर विचार करना आवश्यक है। हमारा उद्देश्य यहाँ उनके औचित्य अनौचित्य पर विचार करना नहीं किंतु उनके प्रस्तुत रूपों एवं भाव-धाराओं पर प्रकाश ढालना है।

✓ प्रसाद ने गीतों का प्रयोग निम्न प्रकार किया है।

- १ साधारण नाटकीय कथावस्तु के उपयोग के लिये।
- २ साहु-वैरागी महारामाओं एवं नर्तकियों के गायनों के रूप में।
- ३ राष्ट्रीय भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिये।
- ४ संगीतात्मक काव्य-कला की सुन्दर अभिव्यक्ति के लिये।
- ५ सरस दार्थनिकता के स्फुरण स्वरूप।
- ६ ऐसी गहन श्रवणारिकता एवं मानवीय मनोविकारों के चित्रण के लिये जिनमें शरीर एवं यौवन सम्बन्धी उत्कट, उद्गोलित करनेवाली भाव-लहरियों को प्रत्रय मिला है एवं उन्मादक यौवन, यौवनागम, यौवनोचित आकांक्षाओं, प्रभावों, बेकली आदि की मार्मिकता को व्यक्त करने के लिये।
- ७ नवयुग के संदेश एवं वाणी के रूप में।
- ८ आंतरिक भाव गांभीर्य के प्रदर्शन के लिये।
- ९ भक्ति एवं प्रार्थना के रूप में।
- १० मानवता के समर्थन एवं जीवन में सरसता लाने के लिये।
- ११ अतीत-स्मृति, करण एवं भारतीय संस्कृति के प्रदर्शन के लिये।
- १२ प्रकृति और प्रेम की आराधना स्वरूप।

नाटकान्तर्गत कविताओं का संग्रह पृथक् ही प्रकाशित करना उचित है। शुक्लजी के गद्य के समान प्रपाद के गीत संपूर्णतः उद्धृत करने योग्य हैं। कहीं से भी कोई पद, कोई पंक्ति, कोई छंद जै लीनिये वही रस, वही अभिव्यक्ति, वही जीवन, वही उल्लास, वही तीव्र अतीत स्मृति स्वदेशानुराग मिलेगा। कविताओं के अश्रू पूर्व सुन उद्धरण देना भावों को छोड़ देना है।

प्रपाद में राष्ट्रीय-भावना वड़े ही उज्ज्वल भव्य, उत्साह और जीवन से भरे हुए रूप में हुई है। उनका द्रुतगामी गीत है।

“हिमाद्रि तुङ्ग श्रृंग से प्रबुद्ध-शुद्ध भारती,
स्वयं प्रभा समुच्चला स्वतंत्रता पुकारती।
अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़-प्रतिज्ञा सोचलो,
प्रशस्त पुण्य पंथ है—वडे चलो, वडे चलो।
असंख्य कीर्ति रश्मियाँ, विकर्ण दिव्य-दाह सी,
सपूत मातृ-भूमि के—रुको न चीर साहसी !
अराति सैन्य सिन्धु में—सुवाडवामि से जलो,
प्रवीर हो जयी बनो—वडे चलो, वडे चलो ।”

यह वन्देमातरम् गायन के समान ही राष्ट्रीय जीवन-प्रदायक है। इसी प्रकार ‘ध्रुवस्वामिनी’ की यह कविता जो घन्दगुप्त से एकाकी, राज्य-विलग द्वारा कही गई है रवीन्द्रनाथ ठाकुर की “अकेलो चलो चलुरे” वाली कविता के समान ही आधी, अग्नि से लड़ कर, ज्वालामुखियों के मुख में से निकल कर भी सफलता, ईयेय की ओर धड़ानेवाली है। कोई पंक्ति, कोई शब्द ऐसा नहीं जो जोश, जीवन, से भरा न हो; अर्यकरता, मीषणता से सामना करने का साहस न भरता हो।

“पैरों के नीचे जलधर हों; विजली से उनका खेल चले, संकीर्ण कगारों के नीचे, शत-शत भरने वे मेल चलें।

सन्नाटे में हो विकल्प पवन, पादप निजपद हो चूम रहे,
 तब भी गिरि पथ का अथक पथिक, ऊपर ऊँचे सब भेल चले ।
 पृथ्वी की आँखों में बन कर, छाया का पुतला बढ़ता हो,
 सूने तम में हो ज्योति बना, अपनी प्रतिभा को गढ़ता हो ।
 पीड़ा की धूल उड़ाता-सा, बाधाओं को ढुकराता सा,
 कट्टों पर कुछ मुसकाता-सा, ऊपर ऊँचे सब भेल चले ।
 खिलते हों ज्ञात के फूल वहाँ, बन व्यथा तमिस्ता के जारे,
 पद-पद पर ताएँडव नर्तन हो, स्वर सप्तक होवें लय सारे ।
 मैरव रव से हो व्याप दिशा, हो काँप रही भय चकित निशा,
 हो स्वेत धार वहती कपिशा, ऊपर ऊँचे सब भेल चले ।
 विचलित हो अचल न मौन रहे, निष्ठुर शृङ्खार उतरता हो,
 क्रंदन कंपन न पुकार बने, निज साहस पर निर्भरता हो ।
 अपनी ज्वाला को आप पिये, नव-नील कंठ की छाप लिये
 विश्राम शान्ति को श्राप दिये, ऊपर ऊँचे सब भेल चले ।” (ध्रु.)

“जियें तो सदा उसी के लिये, यही अभिमान रहे, यह हर्ष,
 निछावर करदें हम सर्वस्त्र, हमारा प्यारा भारतवर्ष ।” (ज.)

सबसे अधिक जहाँ प्रसाद की प्रतिभा का काव्य के लिये उपयोग
 हुआ है वे स्थल हैं जहाँ उन्होंने यौवन, यौवनोल्लास, सौन्दर्य की
 अभिव्यक्ति की है । शब्दों में से भाव उछल-उछल पड़ते हैं । चित्र खींच
 देते हैं । एक अद्भुत आकर्षण की सृष्टि करते हैं ।

“भरा नैनों में मन में रूप,
 किसी छलिया का अमल अनूप ।” (च.)

सौन्दर्य के प्रति—

“तुम कनक किरण के अन्तराल में
 लुक-छिप कर चलते हो क्यों ?

है लाज भरे मौन्दर्य !
वता दो मौने बने रहते हो क्यों ?”

“मुधा सीकर से नहला दो”

“मधुप कव एक कली का है”

“सखे ! वह प्रेम मयी रजनी

आँखों में स्वप्न बनी ।” (च.)

“यौवन ! तेरी चंचल छाया ।

इसमें वैठ धूट भर पी लूँ जो रस तृ है लाया ॥

मेरे प्याले में मद बन कर कव तू छली समाया ।

जीवन वंशी के छिद्रों में स्वर बन कर लहराया ।

पल भर स्कने वाले ! कह तू पथिक कहाँ से आया ॥” (धु.)

“आज इस यौवन के माधवी कुँज में कोकिल घोल रहा ।

मधु पीकर पागल हुआ करता प्रेम प्रलाप

शिथिल हुआ जाता हृदय जैसे अपने आप,

लाज के बन्धन खोल रहा ।

चिछल रही है चाँदनी छविमतवाली रात,

कहती कंपित अधर से बहकाने की चात ।

कौन मधु मदिरा घोल रहा ?” (च.)

“अनिल भी रहा लगाये घात ।

मैं बैठी दुमदल समेट कर, रही छिपाये गात ।

खोल कर्णिका के कपाट वह निधड़क आया प्रात ।

बर जोरी रस छोन ले गया, करके मीठी चात ।”

“मधुर माधव ऋतु की रजनी, रसीली सुन कोकिल की ताज ।

सुखी कर साजन को सजनी, छवीली छोड़ हठीला मान ।” (वि.)

“आज मधु पीले यौवन बसंत खिला ।” (ज.)

“देखी नयनों ने एक झलक, वह छवि की छटा निराली थी।
मधु पीकर मधुप रहे सोये, कमलों में कुछ-कुछ लाली थी॥
सुरभित हाला पी चुके पलक, वह मादकता मतवाली थी।
भौले मुख पर वे खुले अलक, सुख की कपोल पर लाली थी॥ (ज.)
करुणा, वेदना, अतीत-सृति, सृति पर काव्य पुं जीवन के बूँदे
अप्रतिम हुई हैं।

“यह कसक अरे आँसू सह जा ।
वन कर विनम्र अभिमान सुझे
मेरा अस्तित्व बता रह जा ।
वन प्रेम छलक कोने-कोने
अपनी नीरव गाथा कह जा ।
करुणा वन दुखिया वसुधा पर
शीतलता फैलाता वह जा ।” (धु.)

“न छेड़ना उस अतीत सृति से
खिचे हुए बीन-तार कोकिल
करुण रागिनी तड़प उठेगी
सुना न ऐसी पुकार कोकिल ।” (स्कंद.)

“संसृति के वे सुन्दरतम ज्ञण यों ही भूल नहीं जाना,
‘वह उच्छृङ्खलता थी अपनी’-कह कर मन मत वहलाना ।” (स्कंद.)
“प्यारे निर्मोही होकर मत हमको भूलना रे !” (अ.)

“निकल मत बाहर दुर्वल आह !
लगेगा तुमे हँसी का शीत ।”

“प्रथम यौवन मदिरा से मत्त, प्रेम-करने की थी परवाह,
और किसको देना है हृदय, चीन्हने की न तनिक थी चाह ।
वेंच डाला था हृदय अमोल, आज वह माँग रहा था दाम,

वेदना मिली तुला पर तोल, उसे लोभी नं ली बेकाम ।”

(म्हंद.)

“ओ मेरी जीवन की सृष्टि ! ओ अन्तर के आतुर अनुराग !
बैठ गुलाबी विजन उपा में गाते कौन मनोहर राग ?”

“ आह वेदना मिली विदाई

मैंने भ्रम-चश जीवन संचित

मधुकरियों की भीख लुदाई ” (चं.)

“ आशा विकल हुई है मेरी

प्यास बुझी न कभी मन की रे !

ओ वेपीर पीर ! हूँ हारी,

जाने दे, हूँ मैं अधमारी,

सिसक रही घायल दुखियारी

गाँठ भूल जीवन-धन की रे !” (रा.)

“ हृदय के कोने-कोने से

स्वर उठता है कोमल मध्यम, कभी तीव्र होकर भी पंचम ।

मनके रोने से” (वि.)

“सधन वन वल्लरियों के नीचे ।

उपा और संध्या किरनों ने तार धीन के खींचे ॥

हरे हुए वे गान जिन्हे मैंने आँसू से सींचे,

स्फुट हो उठी मूक कविता फिर कितनों ने द्वग मींचे ।

सृष्टि-सागर में पलक-चुलक से बनता नहीं उलीचे,

मानस तरी भरी करुना जल होती ऊपर-नीचे ॥” (का.)

प्राचीन शैली पर शुक्र दार्शनिकता संबंधी—

“ जीने का अधिकार तुम्हें क्या, क्यों इसमें सुख पाता है ।
मानव, तू ने कुछ सोचा है, क्यों आता, क्यों जाता है ॥”

आद्य अविद्या कर्म हुआ क्यों, जीव स्ववश तब कैसे था ।”
(पूरी कविता देखिये, न० का० ना० पृ० ४६)

“ घवराना मत इस विचित्र संसार से ।

औरों को आतंक न हो अविचार से ॥”

❀ ❀ ❀

सीधी राह पकड़ कर सीधे चले चलो
छले न जाओ औरों को भी मत छलो

निर्वल भी हों, सत्य पक्ष मत छोड़ना,
शुचिता से इस कुहक-जाल को तोड़ना” (वि.)

“अब भी चेत ले तू नीच !

दुःख परितापित धरा को स्नेह जल से सींच ॥ (रा.)

प्रार्थना, आरम-निवेदन, विश्व-मंगल-कामना संबंधी—

“नाथ, स्नेह की लता सींच दो, शान्ति-जलद-वर्पा कर दो ।”

(पूरी कविता देखिये ज० का० ना० पृ० १०७)

“ करुणा कादस्त्रिनी वरसे—

दुःख से जली हुई वह धरणी प्रसुदित हो सरसे ।” (रा.)

“ पालना बने प्रलय की लहरें

शीतल हो ज्वाला की आँधी

करुणा के घन छहरें

दया दुलार करें पल भर भी

विपदा पास न ठहरे

प्रसु का हो विश्वास सत्य तो

सुख का केतन फहरे । ” (स्कंद.)

चन्द्रगुप्त

मुद्राराज्यस एक संघर्ष-प्रधान नाटक है। इसमें कथा का प्रारम्भ चन्द्रगुप्त के सिंहासनासीन हो जाने के पश्चात् शुरू होता है। चाणक्य और राज्य में जो राजनीति, कुटिल नीति पूर्ण मुद्रा राज्य (अनुवादक चालें चन्द्रगुप्त के शासन को स्थिर करने, राज्य के भारतेंदु वाद) पर तीति पूर्ण विजय करने, एवं उसके हृदय और मस्तिष्क पर अधिकार करने के लिये चली गई हैं ताकि वह शासन सुदृढ़ और स्थायी हो सके, उनका संघर्षमय वर्णन इसमें मिलता है।

नन्द का नाश कर चन्द्रगुप्त सिंहासनासीन हो गया है। चाणक्य की प्रतिज्ञा पूर्ण हो गई है लेकिन शासन अभी सुदृढ़ नहीं हुआ था, राज्य-सा भक्त, बुद्धिमान, नीतिज्ञ और उत्साही युवक मंत्री चन्द्रगुप्त के विरुद्ध वातावरण फैला रहा था। राज्य के बाहर भी वह सैन्य-संग्रह उसके विरुद्ध फर उसके उन्मूलन का उपाय कर रहा था केवल स्वामिभक्ति के लिये, निस्त्वार्थ भाव से। राज्य का चरित्र मुद्राराज्यमें बड़े ही महत् रूप में प्रकट हुआ है यद्यपि उसको राजनीतिक पराजय हुई है। चाणक्य विजयी हुआ है किंतु राज्य के सद्गुणों, नीतिज्ञता, विद्वत्ता स्वामिभक्ति का बड़ा उत्तम प्रभाव पढ़ता है। चाणक्य भी उसके इन गुणों की मुक्तकंड से प्रशंसा करता है। राज्य की महत्ता इससे भी प्रकट होती है कि चाणक्य जितना राज्य को सुदृढ़ करने का प्रयत्न करता है उससे कहीं अधिक राज्य को चन्द्रगुप्त का मंत्री बनाने का प्रयत्न करता है और केवल इसी उद्देश्य को लेकर इस नाटक की रचना

की गई है। यद्यपि नाटक की समस्त घटनाओं के सूत्रों का संचालक चाणक्य है किंतु उसका संचालन और उद्देश्य केवल राज्य सदृश सिंह को जीवित पकड़ शासनोपयोगी बनाना है इस नाटक में चन्द्रगुप्त का कोई महत्व नहीं, वह तो एक चाणक्य की इच्छा, दुनिंद्र और उद्देश्य पर चलनेवाला वीर सन्नाट है जो निपूक्षिय भी है। चाणक्य स्वतः उसके लिये राज्य प्राप्त करना है, उसकी व्यवस्था करता है और उसे सुदृढ़ तथा स्थायी बनाना है। वीर चन्द्रगुप्त शायद गतिशुद्ध की धक्कान मिटाना और उसके पश्चात् शासन व्यवस्थित होने पर आमोद-प्रमोदों की ओर रुचि रखता-सा ग्रतीत होता है।

इसके पढ़ने से कतिपय अन्य वातों पर भी प्रकांश पड़ता है जिनका विवेचन ऐतिहासिक तथ्यों के द्वारा प्रसादजी ने भी चन्द्रगुप्त नाटक में किया है। वे ये कि चाणक्य उस समय का एक नीनि कुशल-विद्वान्, राजनीतिक उथल-पुथलों, क्रांतियों का फरनेवाला व्यक्ति था। किंतु वह अवश्य ही वयस्क रहा होगा। उसका परिवार भी नष्ट हो गया था जैसा कि कथाओं से ज्ञात होता है। इन सब उथल-पुथलों के करने का एक मात्र कारण उसका नंदों से प्रतिशोध करना ही था और इसीलिये वह इन प्रपंचों में फँसा, किंतु वह निस्तृप्ति, निस्त्वार्थी वात्मण भी था और वर्षोंही वह इन सांसारिक, राजनीतिक झगड़ों से मुक्त हो लका त्वांही विरक्त होकर अपने वास्तुणोचित कार्यों में पुनः संलग्न हो गया। मुद्रा-राज्य में राज्य को मंत्री पद देने के लिये जो उसका प्रयत्न है वह इसीलिये कि जो राजनीतिक महाकांति वह संघटित कर सका था और जिसके फलस्वरूप चन्द्रगुप्त एक महान् राज्य का अधिपति हो सका था उसे अन्त तक सफलीभूत कर सके। वह महाकांति तब तक सफलीभूत नहीं हो सकती थी जब तक चन्द्रगुप्त का शासन स्थायी तथा सुदृढ़ न होता।

चन्द्रगुप्त का शासन सुदृढ़ और स्थायी हो सके इसलिये राज्यस से विद्वान्, जनप्रिय, नीति कुशल व्यक्ति की उसको जरूरत थी। चाणक्य का ली इन घटनाओं से ऊब गया था। वह मानसिक शांति चाहता था। उसकी महत्त्वा, नीति कुशलता, विद्वत्ता अपकार-प्रतिशोध कर सकी थी किंतु उसका वास्तव उससे इन स्थिरे पृथक् होने का आग्रह कर रहा था। राज्यस, ऐसा ज्ञात होता है, तरुण रहा होगा और चाणक्य यह चाहता था कि उसे मंत्री बना कर वह राज्य की नींव दढ़ा और स्थायी बना सकेंगा। उसके मनोनुकूल व्यक्ति उस समय उसकी दृष्टि में केवल राज्यस ही था। राज्यस उसका प्रतिद्वन्द्वी भी था किंतु उसमें चाणक्य का प्रगाढ़ विश्वास भी था। राज्यस ने भी अन्त में मंत्री पद स्वीकार कर लिया। इन सब घटनाओं से ज्ञात होता है कि उस समय के विद्वान् नागरिक व्यक्ति भी देश भक्ति को कितना महत्व देते थे। देश के लिये लड़ना, उसकी भलाई के लिये समय पर एक हो जाना और प्रतिद्वन्द्वी होते हुए भी हृदय में निष्कपटता, सरलता और शुद्ध-भाव रखना ये भारतीय संस्कृतिलन्य विशिष्टताएँ रखते थे। इसीलिये राज्यसुत्र राज्यस के हाथों में छोड़ कर चाणक्य निश्चित होकर चालूप्रस्थी हो गया। अध्ययन, मनन और शास्त्र-प्रणयन में लग गया।

'मुद्राराज्यस' में चाणक्य एक ऐसे नीतिकुशल व्यक्ति के समान हमारे समझ आता है जिसका सिद्धांत था किसी को भी चाहे वह अपना इष्ट भित्र, सहयोगी अथवा अत्यंत विश्वासी ही क्यों न हो विश्वास न करे। अपनी गुप्त वात न बतावे। उसका कथन था कि सोची हुई वात भी इतनी गुप्त रखे कि वाणी को प्रता न चले। सम्पूर्ण नाटक में इसी कथन की पुष्टि होती है। उसके विश्वासी व्यक्ति भी उसके चरित्र, कथनों तथा कार्यों को नहीं समझ पाते हैं। अंत में स्वयं राज्यस को यह कहना पड़ा है कि, "जात् पर्यां का खेल में, कछु समझ्यो नहि जात ।"

लीबसिंद्वि चपणक चाणक्य का ही एक भेदिया या किंतु चाणक्य के अन्य जन भी हृस वात को नहीं जानते थे। उसकी चालें इतनी दुर्लभ हैं कि नाटक-लेखक राजस की सराहना करते हुए भी चाणक्य को कुटिल नीति की सराहना करता है। उसकी कुटिल नीति की, उसकी दुर्लभता, गम्भीरता तथा पैचीलेपन की, उसके सूत्रों को फैजाने, संचालन और हकड़े करने की शक्ति की भूरि-भूरि प्रशंसा करना पड़ती है। नाटक-लेखक इन चक्रन्यूहों को चित्रित कर अत्यन्त विशिष्ट स्थान संस्कृत-साहित्य में उचित रूप से प्राप्त कर सका है। अपने हंग का तो वह एक ही श्रेष्ठतम नाट्यकार है।

चाणक्य न ऐचल कुटिल नीतिज्ञ ही है किंतु वह दूरदर्शी, दृप्रतिज्ञ, आत्मविश्वासी भी है। नाटक की सब घटनाएँ उसकी हस्ता, बुद्धि के अनुसार चलती हैं। जैसी घटनाएँ वह विचारपूर्वक निश्चित कर कोता हैं वे अचरण होती हैं और उसी प्रकार होती हैं जिस प्रकार वह चाहता है। उनका वही परिणाम निकलता है जैसा उसने सोच रखा है। प्रतिज्ञा उसकी इतनी दृढ़ है कि अन्त तक उसकी पूर्ति की जाती है। आत्म-विश्वास इतना दृढ़ है, आवश्यकना से अधिक है कि चाणक्य सर्व वहता है, “अब चित्रगुप्त इन नामकों में लिखिं हृति।” क्रोधी भी वह इतना है कि क्रोध में जो वात सुँह से निकल गई वह पत्थर की लकीर हो गई। संसार की कोई शक्ति उसमें बाधा नहीं ढाल सकती।

इन सब गुणों में जो उसकी विशेषता है और उसके सब कुछतयों को दुनियाँ की दृष्टि में—ऐसी दुनियाँ की दृष्टि में जो राजनीतिक चालों में या वातों में भी अपनी हृदयगत सान्विक भावनाएँ देखा करती है— और कर देती है, वह उसका ग्राहणक्षम है। उसकी निस्पृहता, निस्त्वा-

र्थता है। सब शत्रुओं का नाश कर चन्द्रगुप्त सदृश सम्राट् का गुरु होते हुए भी, उस पर अत्यधिक प्रभाव रखते हुए भी, उसका मंत्री-पद स्वीकार नहीं करता है। उन्हें अपनी मानसिक शांति, विश्व-कल्याण-कामना, ग्रथ-प्रणयन आदि कार्यों से हीनतर समझता है। वह पद राज्यस को इस प्रकार संरीप देता है जैसे वह उसकी धरोहर हो। उसका कर्तव्य हो। यहाँ चाणक्य, कुटिल राजनीतिज्ञ चाणक्य आदर्श हो गया है, महात् हो गया है, भारतीय हो गया है। यदि उसने इतना त्याग नहीं किया होता तो शायद भारतीय महात्व को प्रदर्शित करनेवाला अमर-ग्रंथ - अर्थशास्त्र-उसने न रचा होता।

राज्यस स्वामिभक्त निम्नस्वार्थ सेवक है। सूतक रवामी के मर जाने पर भी वह विना किसी स्वार्थ के चाणक्य और चन्द्रगुप्त का विरोध और युद्ध करता है। युद्ध नीति तथा राजनीति में भी वह चरुर है। चाणक्य के राजनीति के जाल में फँस कर पराजित होने का कारण उसकी राजनीतिक बुद्धि का अभाव नहीं किंतु असहायावस्था है। चाणक्य भी उसकी इस वात औ स्वीकार करता है। इसलिये चन्द्रगुप्त के पूछने पर कि आपने राज्यस को क्यों निकल जाने दिया चाणक्य कहता है, “इसलिये कि यदि वह यहाँ रहेगा तो जनता जो उसे चाहती है, विद्वोह कर देंगी। उसे राज्य में रहते हुए राज्य की पूरी सहानुभूति एवं सदायता प्राप्त हो सकेगी किंतु बाहर रहकर वह कुछ नहीं कर पायगा। ऊपरी जोड़तोड़ मिलाता रहेगा और हम आपने वश में आपने मनोनुकूल कर देंगे।” और वास्तव में ऐसा हुआ भी। जिन घटनाओं का सृजन सकेंगे।

राज्यस को वश में करने के लिये किया गया वेन हो सकती यदि राज्यस राजधानी में या राज्य में होता। चाणक्य ने बुद्धिमानी से उस पर उसके मित्र की प्राण रक्षा कर उपार भी लाद दिया। रोमेटिक दंग से यह प्रकट भी कर दिया कि वह उसे बुद्धिमान, योग्य और कुशल

मंत्री समझता है। वह स्वयं निस्त्वार्थी है। नंद-वधु शायद् सीजर या चालूर्धे द्वितीय के वधु के समान उसे आवश्यक हो उठा था। हम आवश्यकना का प्रदर्शन मुझाराज्जस की घटनाओं, ऐतिहासिक तथ्यों के निर्दर्शन की पूर्ति 'राय' एवं 'प्रसाद' के 'चंद्रगुप्त' नाटकों से भर्तीभाँति हो जाती है। राज्जस भी इन सब आवश्यकताओं का अनुभव करता है और इसीलिये मंत्री-पद ग्रहण करना अयोग्य नहीं समझता। यदि हच वातों को उसने न समझा होता तो उस सा स्वामिभक्त सेवन कभी चंद्रगुप्त के साम्राज्य का मंत्री-पद स्वीकार नहीं करता।

स्वामि भक्ति के सथ-साध मित्र-प्रेम भी उसमें उच्च कोटि का है। चंद्रनदास पर जब आपत्ति आती है तो अपने ग्राणों को भी परवाह न कर वह आग में कूद जाता है। मित्र-स्नेह की उसमें प्रबलता होने के कारण ही चाणक्य उसे राजधानी में अपने आप खींच लाया और विना राज्जस को किसी प्रकार की थाँच आये मित्र के प्रति कर्तव्य पालन का भाव भी उसमें इसी से प्रकट होता है।

राज्जस राजनीतिज्ञ और रणकुशल योग्य सेनापति भी आवश्य है किंतु वह सज्जन, उदार, भोला, मनोभावों को छिपा न सकने वाला भी है। चाणक्य के समान उसमें उतनी राजनीतिक दुर्सहता या कृतिलता भी नहीं है। उसकी भावुकता और सहज विश्वास करने को प्रवृत्ति के कारण तो उसे धोया होता है। दुःख उठाना पड़ता है। चाणक्य से वह परालित होता है। आत्म विश्वास का भी उसमें अभाव है और अपनी हार देखकर वह भाग्य ही को दोष देता है। आत्म-विश्वास उसमें सहज प्रकृति वश नहीं प्रस्तुत परिस्थितियों के कारण है। वह पराजित होकर भी विजयी है और चाणक्य विजयी होकर भी पराजित-सा है। संसार तो विजय और पराजय, सफलता तथा असफलता का ध्यान रखता है। जो विजयी है, सफल है वह सर्व गुण सम्पन्न है। जो

परानित हैं, वह असफल है गुणों से रहित है। उसमें दोषों की उद्भावना सहज हो जाती है। संसार की इसी मनोवृत्ति का दिग्दर्शन सुद्धाराच्चरण में उसके लेखक के द्वारा हुआ है यद्यपि वह उसके महत्व और उसके प्रति लो उच्च भाव रहे थे उन्हें भी व्यक्त करता है। नेपोलियन और वेलिंगटन की पराजय और विजय के समान राज्ञस और चाणक्य की असफलता और सफलता है।

“राय वावू की प्रतिभा वडी ही विलक्षण और विचित्र रसमयी थी। वे वडे ही उदार और देश-भक्ति लेखक थे। उनके नाटक दर्शकों और पाठकों को इस मर्यादित से उठा कर स्वर्गीय और चन्द्रगुप्त—लेखक पवित्र भावों के किसी अभिनव-प्रदेश में ले जाते हैं। द्विजेन्द्रलाल राय उनके नाटक पवित्रता, उदारता, देश-भक्ति और स्वार्थ-स्थान के भावों से भरे हुए हैं। उनमें श्रंगार और हाव-भावों की गन्ध तक नहीं।”

राय महोदय चन्द्रगुप्त में कथा का प्रारम्भ चन्द्रगुप्त के सन्नाट होने के पहिले से ही करते हैं। सुद्धाराज्ञस में जहाँ कथा का तेज सगध व उसके निकट का प्रान्त है वहाँ 'चन्द्रगुप्त' में अफगानिस्तान से बंगाल तक का भाग आ जाता है। राय के चन्द्रगुप्त में राज्ञस को कोई स्थान नहीं है; क्योंकि सुद्धाराज्ञस में जहाँ चाणक्य और राज्ञस की कृट राजनीति, बुद्धि-कौशल, स्पर्धाजन्य आवांका आदि का द्वन्द्व मिलता है वहाँ चन्द्रगुप्त में कोमल, श्रंगारिक वास्तव्य भाष, स्वदेश-प्रेम, विश्व-प्रेम आदि की भावनाएँ प्राप्त होती हैं। चन्द्रगुप्त में न केवल भारतीय कथा-वस्तु ही चलती है किन्तु सेत्यूक्स, एन्टीगोनस और हेलेन का भी उत्तराही-और उसी प्रकार महत्व प्रदर्शित होता है जिस प्रकार और जितना चन्द्रगुप्त, चाणक्य आदि का। 'छाया' की सृष्टि कर राय महोदय ने इसमें एक अलौकिक साधना, स्थान, नारी-हृदय की निधि, विषेश

और हृदयाकर्पिता को प्रश्रय दिया है। हेलेन और द्वाया की सृष्टि, चरित्र-चित्रण ऐसी नाट्य-वस्तुएँ हैं जिनसे अमर भावनाओं और सदानुभूतियों का समुचित प्रदर्शन होता है। सुद्धाराच्चरण में नाटक का प्रधान पात्र और घटनाओं का केन्द्र चाणक्य है। रात्रि केवल उसका विरोध करता है। चन्द्रगुप्त उसके हाथ का खिलौना है। रुक्मानी एवं वीरता का प्रतीक चन्द्रगुप्त नहीं मालूम पड़ता। सुद्धाराच्चरण में प्रतिभा, कृटनीति, और द्वन्द्व का परिचय है जिसे उस समय तक स्वदेश प्रेम एवं विद्ध-प्रेम की भावनाएँ जिस प्रकार आज हम उन्हें ग्रहण करते हैं उस प्रकार और उस रूप में नहीं थीं। इसीलिये ध्यक्त रूप से सुद्धाराच्चरण में नहीं मिलतीं।

राय महोदय का वेग-साहित्य में विशिष्ट स्थान है। उक्त साहित्य ने नाटकों में न केवल एक नवीन प्रशास्त्री को ही जन्म दिया है अपितु देश-प्रेम के आधुनिक रूप को, जीवन के उच्च आदर्शों को और सूचम रूप से प्रेम को भी वढ़ी ही भव्यता से चिन्नित किया है।

जिस प्रकार भारत में मुस्लिम आगमन के पश्चात् उनकी यहाँ लड़ जमजाने के पश्चात् दोनों संस्कृतियों के सम्मलन का प्रयत्न कर्यार, अकबर आदि ने किया। लोधाचार्द सदृश महिला को उपकरण बनना पड़ा। उसी प्रकार आज से वार्द्धस सौ वर्ष पहिले सिकन्दर शाह के आक्रमण के पश्चात् हेलेन शथवा प्रसाद की कार्नेलिया को भी यूनानी और भारतीय संस्कृतियों के गठबन्धन के लिए एक साधन बनना पड़ा होगा। इसी का मार्मिक चित्रण राय ने हेलेन के रूप में 'चन्द्रगुप्त' में रखा है।

जन श्रुति के आधार पर सुद्धाराच्चरण की रचना हुई है। उस समय तक की ऐतिहासिक खोज के केवल ढाँचे को आधार बना कर और उसमें ऐतिहासिक पात्रों की स्वप्रतिभा से चित्रण कर राय महोदय ने 'चन्द्रगुप्त' लिखा। चरित्रों के चित्रण में राय यावृ को स्वतंत्र प्रतिभा और

कल्पना से ही काम लेना पड़ा है और इसीलिये जहाँ 'चन्द्रगुप्त' में सरस भाव लहरिये हैं, मानविक भाव हैं, हार्दिक अनुभूतिएँ हैं वहाँ चरित्र-चित्रण अधूरा, अस्पष्ट, अविकसित और असमान भी है। चाणक्य की एक प्रेयसी है जिससे समय-असमय वह बात किया करता है, समस्त लिया करता है, जिसे वह आह्वान किया करता है और जिसकी प्रेरणा पर ही उसका सारा जीवन निर्भर है। किंतु यह प्रेयसी उसकी मृत पती है, देवी है, नियति या प्रकृति है यह स्पष्ट ज्ञात नहीं होता। वह सदा एक पहेली ही बनी रहती है। हन दृष्टियों से विचार करते हुए प्रसाद का चन्द्रगुप्त—कहीं अधिक सुन्दर हुआ है। प्रसाद के चन्द्रगुप्त में पात्र न केवल ऐतिहासिक हैं किंतु उनका चरित्र-चित्रण आधुनिकतम ऐतिहासिक तथ्यों पर निर्भर है। स्वयं प्रसाद ने भी उन तथ्यों को खोजने का और उनके अनुरूप अपने पात्रों के गठन करने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया है। इसीलिये प्रसाद का चरित्र-चित्रण, स्वाभाविक, यथोचित हुआ है। 'मुद्राराज्जस', 'चन्द्रगुप्त' (राज्य), 'चन्द्रगुप्त' (प्रसाद) में इसीलिये विकास की एक सुश्रृंखला प्राप्त होती है।

इसमें सन्देह नहीं "द्विजेन्द्र बाबू हास्य-रस के और च्यंग्य-कविता के भी सिद्धहस्त लेखक थे। अतएव उनके नाटकों में, उनके निर्मल और उद्ज्वल हास्य-विनोद को पढ़ कर—जिसमें अश्लीलता की या भाँडपने की एक छींट भी नहीं—आप लोट-पोट द्वे जायेंगे।" किंतु यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि हास्य और विनोद के समय-असमय के उनके प्रयोग ने, कहाँ, किस प्रकार और किस समय यथा योलना इसका उनमें उचित ध्यान नहीं रहने दिया है। कहाँ-कहाँ तो वह असाधारण, अरुचिकर या अप्रसंगिक भी हो गया है।

एक बात का आभास 'चन्द्रगुप्त' (राज्य) में और मिलता है। वह यह कि लेखक ब्राह्मणत्व की ध्वेष्टता और उच्चता को आधार बना कर वर्ण-

विभेद और स्पर्धा की भावना को उत्तेजित करना चाहता है। व्यक्तियों के भावों को उत्तेजित कर वह अपना कार्य-साधन करना चाहता है। ऊँच-नीच का भेद भी प्रकट होता है। अपने ही वर्ण की उच्चति—कामना और उसके प्रति किये गये अस्याचारों के प्रतिशोध लेने की हृच्छा, प्रतिहिसा की संकीर्ण प्रवृत्तिएँ भी चाणक्य के माध्यम द्वारा वरावर अन्त तक चली जाती हैं। मानव में इन प्रवृत्तियों का होना अस्वाभाविक तो नहीं किंतु अश्रेयस्कर अवश्य है। इसीलिये यह शंका होती है कि यद्यपि राय महोदय की देश-भक्ति भी सीमा काश्मीर से कन्याकुमारी और सिंध से बझ तक भारतीय सीमाएँ होती हैं तथापि उसमें कदाचित् विदेशियों के लिये, नीचों के लिये, मुस्लिमों के लिये कम चेत्र है। किंतु इन सब भावनाओं को आश्रय देते हुए भी राय महोदय दोषी नहीं दहराये जा सकते क्योंकि उन्हें भी तत्कालीन भावना से, उस समय तक के विकसित भावों से प्रभावित होता है। उनका उपयोग अपनी रचनाओं में करता है। वह कभी-कभी अपने युग से आगे भी जाता है किंतु उस युग के सौ-पचास वर्षों के बाद कौनसी नवीनताएँ, भाव-लहरिएँ, प्रकट होंगी इसके परिचय की उससे आशा रखना अनुचित है, असामिक है, प्रगति-विरोधी है। इसीलिये हमें उन पर विचार करते समय उनकी हृदयगत मूल भावनाओं का ही ध्यान रखना चाहिये।

मुद्राराचस का चाणक्य एक सेधावी कुटिल राजनीतिज्ञ है किंतु राय का चाणक्य एक साधारण, विघट घटनाओं वा सृजक और मानवी गुणों से युक्त है। स्वर्य के प्रति और ग्राम्यणत्व के प्रति उसे काफी अभिमान है। ग्राम्यणत्व अथवा ग्राम्यण-समाज के अधःपतन, पूर्व गौरवच्युति, साधना एवं तप-न्यून के अभावों में उसे दुःख होता है। स्वर्य में उसके पूर्वकालीन वास्तुणों के गुणों का अभाव देख कर वह ग्लानि से नर जाता है। वह उनके पूर्व-गौरव की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता है। नन्द के

दूरवार में कात्यायन के पद्यंच से जब वह अपमानित होता है तो कुशों के समूल नाश के समान नन्द का सर्वनाश कर ही वह विश्राम पाता है। एक बार वह लो प्रतिज्ञा कर लेता है उसे पूरा करता है। वाह्यण्टव की भावना का एक ऐसा सम्मिश्रण राय बाबू ने चाणक्य में किया है कि वह इसी भावना का आधार ग्रहण कर मगध में और मगध के बाहर भी एक महान् विष्वव, एक राजनीतिक क्रांति बरने में समर्थ होता है। वह मेधावी कृटिल राजनीति का आश्रयी वाह्यण एक और राज्य में और उसके बाहर साम्राज्य में एवं नन्द के प्रभाव-चेत्र में जनता को क्रांति के लिये उत्तेजित करता है। वाह्यणों के अधःपतन को अपना शब्द बनाता है। दूसरी ओर अन्य राजागणों में वर्ण-भेद की भावना उत्पन्न कर उन्हें नन्द से विमुख करता है। सिकंदर शाह की भविष्य-वाणी चन्द्रगुप्त के भारत-सम्भाट होने का वह प्रचार करता है। वह यह जानता है कि जनता की मनोवृत्ति किस प्रकार की है। वह मनोवृत्ति कैसे उत्तेजित की जाकर उपयोग में लाई जा सकती है। यह उसी के मस्तिष्क की कल्पना थी जिसने एक शूद्र राजा से निराश करा कर जनता को चन्द्रगुप्त के प्रति सद्भाव के लिये प्रेरित किया। तत्कालीन जनता पर उसने अपने बुद्धि-कौशल और विद्वत्ता, राजनीतिक कुशलता आदि के द्वारा अपना गहरा प्रभाव भी स्थापित कर लिया था। हर्दीं कारणों ने चन्द्रगुप्त के सम्भाट होने का मार्ग साफ कर दिया और इसीलिये चन्द्रगुप्त भी चाणक्य का लिहाज करता दिखाई देता है। वैसे वह भी बीर है, साम्राज्य-प्राप्ति के लिये जी-जान से प्रदत्त करता है। चन्द्रगुप्त (राय) के पढ़ने से चाणक्य के विषय में एक वह धारणा अवश्य घर कर लेती है।

दूसरा जो भाव उठता है वह है प्रतिहिंसा का। नन्द ने उसका केवल अपमान ही नहीं किया था किंतु वह उसके पिता की मृत्यु का, संपत्ति एवं आजीविका-हरण का भी कारण रहा होगा। इनके अतिरिक्त

संभव है इन्हीं परिस्थितियों के परोक्ष अथवा प्रस्थित कारण से उसकी पत्ती का देहावसान हुआ हो । कन्या-हरण हुआ हो । हसीलिए यह परिवार हीन ब्राह्मण पागल हो डाया, उसका हृदय अंतिम सीमा तक चिन्हित हो गया, उसका संसार में कोई न रह गया, मोह न रह गया । हसीलिए नंद वंशोच्छेद के लिए वह उक्त प्रयत्न कर अपनी प्रतिज्ञा का पालन करता है । उसकी प्रेयसी-पत्नी अथवा प्रतिहिता बार-बार उसे नद नाश की थी और प्रेरित करती है । चंद्रगुप्त को सत्रादू बनाना एवं एक महान् साम्राज्य स्थापित करना तो उक्त प्रतिहिता का केवल एक अनुगामी कार्य है । हसीलिए वह नंद को सारने के लिए स्वयं उद्धन हो जाता है किंतु उसकी नीति कुशल बुद्धि उसे रोक देती है और कौशल से वह कार्यायन से इस कार्य को करवा लेता है । राजनीतिक कृषिक्षता और प्रतिहिता की भावना उसमें इतनी प्रथल दिखायी देती है कि वह कहीं झुकता नहीं, पीछे नहीं हटता । चंद्रगुप्त जब अतृष्ण की भावना में बहने लगता है तब वह सुरा को उत्तेजित बरता है । उक्त भावना को पीस डालता है । बार-बार कार्यायन को उत्तेजित करता है । पूर्व स्मृतिएँ उसनी हरी करता रहता है ताकि वह भूल न जाय कि नंद ने किय प्रकार भूखों मार-मार कर उसके सात पुरुषों का वध किया । सुरा की भी वह समय-समय पर नंद के अपमान का उसे शुद्ध समझने की भावना का ध्यान दिला-दिला कर उत्तेजित करता है । उसमें समय-समय पर पुत्रत्व की जो भावना जाग्रत होती है उसे उससे ही कुचलवा डालता है । यद्यपि वह स्वयं बृद्ध सम्राट माता सुरा को सुरा कह कर संबोधन करता, शुद्ध समझता है । सुरा के प्रति लरा भी उसमें आदर नहीं, प्रेम नहीं । वह तो उसके उद्देश्य की एक शब्द है । उसमें अपना कार्य निकालने के बाद वह उसे तोड़ सकता है, फँक सकता है, विना किसी प्रकार के संकोच अथवा दुःख

के । सन्नाट माता हो जाने पर भी उसका यही भाव बना रहता है । यहाँ तक कि चन्द्रगुप्त के प्रति भी वह इस शुद्धत्व के भाव को दूर नहीं कर सकता । चन्द्रगुप्त में जो उत्कृष्ट मातृ भाव है उसकी भी वह अवहेलना सा करता दिखायी देता है । राय में मुद्राराज्ञस का चाणक्य मेधावी, नंति कुशल घटनाओं का इच्छानुसार प्रेरक चाणक्य नहीं रह जाता है ।

राय महोदय ने यदि चाणक्य का इतना ही चित्र खींचा होता तो उसमें कोई महत्व, किसी महापुरुष के लक्षण नहीं मिल पाते । वह मानव का नहीं एक प्रतिहिंसक मानव के कंकाल का चित्र हुआ होता । किंतु राय महोदय ने मानवोचित सरस भाव से युक्त भी अन्त में उसे बना दिया है । उसमें पति के प्रेम एवं पिता के वात्सल्य की सृष्टि भी करदी है जिसमें न केवल नाटक रोचक, सरस और करणपूर्ण हो गया है किंतु चाणक्य का चरित्र भी मानवी और उज्ज्वल हो सका है ।

यौवन काल की उसकी पर्णी की चिरस्मृति, उसकी कन्या जो उससे एक युग से विच्छुड़ गयी थी, जिसका संताप उसको सदैव कचोटता रहा, जिसकी स्मृति और अभाव ने उसे बठोर, प्रतिहिंसक, कूर, अद्यावान घना दिया था; वह उसे प्राप्त हो जाती है । उसे ऐसा मालूम पड़ता है जैसे उसे पुनः अपनी आत्मा प्राप्त हो गई है । उसका ब्राह्मणत्व, ब्राह्मणत्व की साधना, तप, ध्यान, ज्ञानारीलता, अध्ययन-अध्यापन की प्रवृत्ति पुनः प्राप्त हो गई है । उसकी इस मनोवृत्ति का परिचय हमें तब मिलता है जब वह इनने बड़े साम्राज्य में सन्नाट से भी अधिक प्रभावशाली होते हुए भी, मंत्री-पद निश्चय भाव से काल्याषन को सौंप देता है और अपनी कन्या को लेकर संसार के वैभवों, ऐश्वर्यों, प्रभुता, सम्मान सम्पत्ति आदि को ढुकरा कर पुनः तपोवन को, कुटीर को, एकाकी बन कर लैट जाता है । इतनी बड़ी क्रान्ति कर, चन्द्रगुप्त को

सम्राट् बनाकर भी उसे ज्ञात होता है जैसे उसने कोई भूल की है । उसने कुछ किया ही नहीं है । वह तो अब फिर एक संतोषी, साधारण व्राह्मण ही है । यही उसकी महत्ता और विशेषता है जिसने राय के चाणक्य को भौंडा रूप देने से बचा लिया है ।

सेल्यूक्स की कन्या का चंद्रगुप्त से विवाह वाली ऐतिहासिक घटना का सांकृतिक सम्मिलन, विश्व-प्रेम की भावना, एवं भारतीय महत्व के चित्रांकण की सृष्टि ने भी चाणक्य के चरित्र को उतना कुरुप होने से बचा लिया है; उसमें एक उच्चादर्श और भावना की सृष्टि कर दी है ।

चंद्रगुप्त का चरित्र अवश्य मुद्राराज्ञस से कहीं श्रेष्ठतर है । मुद्राराज्ञस का चंद्रगुप्त चाणक्य के हाथ का कठपुतली सम्राट् है, शासन में जिसकी कोई आवाज नहीं है । साम्राज्य का मस्तिष्क चाणक्य है और हाथ-पाँव चंद्रगुप्त । किन्तु 'चंद्रगुप्त' नाटक में चंद्रगुप्त एक वीर, योद्धा, शासन-सूत्रों का संचालक है । वह मातृप्रेम और यौवनोचित सरस-भावनाओं एवं आतृप्रेम के भाव से भी समन्वित है । चाणक्य का समान रूप से कार्य करनेवाला सझेयोगी है । केवल व्राह्मण होने के कारण, विद्वान्, मेधावी, उसकी साम्राज्याकांक्षा में सहायक होने, सम्मति देने एवं उसके लिये जनता को नायरत, संघटित और पक्ष में करने के लिये उसे गुरुत्व मानता है । दोनों के समान उद्देश्य होने के कारण व्राह्मण और ज्ञानिय, मस्तिष्क और शरीर का संयोग होगया है ।

इसी प्रकार चन्द्रकेतु और छाया, जो एक पहाड़ी राजा की कन्या है, के चरित्रों को चित्रित कर राय महोदय ने दो महत् चरित्रों, दो महत् और सुन्दर भावनाओं, दो आत्मत्यागी वीरों, दो सच्चे सहायकों और साधकों की सृष्टि की है । इन दो चरित्रों ने नाटक की मूल भावना को आदर्श को, कला को अत्यन्त ही उज्ज्वल और निक्षरे रूप में रख दिया

है। ऐसे ही मढ़त् चरित्रों की सृष्टि के कारण राय के कई नाटक एवं चरित्र-चित्रण संबंधी दोप दृष्टि से ओझल हो जाते हैं और प्रेक्षक के ऊपर एक अनिर्वचनीय प्रभाव डालते हैं।

हेलेन का चरित्र भी बड़ा ही सुंदर और भव्य बन पड़ा है। वह यूनानी वालिका न केवल सुशिक्षिता कभ्या ही है किन्तु विद्वप्ती भी है। आध्यात्मिक विचारोंवाली है। इतना ही नहीं चन्द्रगुप्त से विवाह करके वह आदर्श विश्व-प्रेम एवं तत्कालीन महान् संस्कृतियों के समन्वय का परिचय देती है। उसमें ही जैसे यूनानी और भारतीय संस्कृतिएँ आकर समागम्ही हैं। वह अपने पिता सेल्यूक्स को चाहती है। उसके लिये सब कुछ त्याग करने को तत्पर हो जाती है। पिता को दुखी देख कर एंटीगोनस से विवाह करने को तैयार हो जाती है। छाया की सपनी बनकर भी वह प्रसन्न होती और स्त्री दुर्लभ त्याग का परिचय देती है। इतने दूर देश में आकर उस समय यहाँ मिल जाना भी उसकी एक विशेषता है। रॉय ने उसका चरित्र भी इसी तरह चित्रित किया है कि जैसे वह भविष्य में चन्द्रगुप्त से होने वाले विवाह की तैयारी कर रही हो, उसकी भारतीय प्रवृत्ति आध्यात्मिकता की ओर सुकी हुई है। वह अध्ययनशीला है। दार्शनिक विचारोंवाली है। भारतीय संस्कृति और आदर्श उसे प्रिय हैं। साथही चन्द्रगुप्त के दर्शन या मिलन के पश्चात् उसमें उसके प्रति प्रेरणाकुर उग आते हैं सेल्यूक्स की भारत-विजय को वह शंका की दृष्टि से देखती है। भारत पर उसकी घड़ाई के विजयोङ्कास के स्थान पर उसे प्रसन्नता नहीं, एक हार्दिक दुःख होता है। सेल्यूक्स की चन्द्रगुप्त से धपमानजनित संघिहो जाने पर उसे न दुःख होता है और न सुख। वह कहती है परिणाम वही हुआ जो होना था। सेल्यूक्स की विजय-लालसा का पूर्ण न होना एवं दो महत् सभ्य जातियों का संपर्क में आना उसे सुख देता है।

सेल्यूक्स और मुरा का (हस्ती प्रकार काल्यायन का भी) चित्रण ठीक नहीं हुआ। त्रुटिपूर्ण और अधूरा है। अस्वाभाविक है। चन्द्रगुप्त नाटक में सेल्यूक्स और एग्योनस की कथावस्तु भी अनावश्यक और अत्यधिक रूप से प्रयुक्त हुई है जिसका बहुत कम संबंध नाटक की मुख्य घटनाओं से है। समान रूप से दो विभिन्न कथा-वस्तुएँ चलती हैं। कभी-कभी ज्ञान भर को मिज्ज जाती हैं और फिर बहुन दूर हट जाती हैं। इसी वातावरण दोनों में अवश्य भारतीय है।

सम्यता की ओटी पर पहुँचा हुआ सप्राट-सेल्यूक्स जितना बीर है उससे अधिक वह राजप-लोलुप है। सिकंदर की भारत-विजय की इच्छा को वह पूरा करने की महावाकांक्षा रखता है किंतु उसे मुँहकी खाना पढ़ती है। उसके एवं उसकी पुत्री हेलेन के संभापण से ऐसा प्रतीत होता है कि वह विद्वान् नहीं, एक कारा सैनिक या सेनापति ही था। हेलेन धार-चार उसकी त्रुटिएँ दिखा कर लजिज्जत करती है। कभी-कभी तो वह अपने को अपमानित अनुभव करने लगता है। चिह्न जारा है। सैद्धांतिक दृष्टि से उसमें और हेलेन में आकाश-पाताल का अन्तर है। एक रण-पिपासु है तो दूसरी रण-विरक्ता। दोनों में कई बार विवाद भी उठ खड़ा होता है। फिर भी वह मातृ-हीन हेलेन को प्यार करता है और उसके द्वारा प्यार प्राप्त करता है। किंतु वे मिलते हुए नहीं दिखाये गये हैं। उनका चित्रांकण ही ऐसा हुआ है जैसे दो विरोध शक्तियों में संघर्ष चल रहा हो। कहलवाना तो राय यही चाहते हैं कि वे एक-दूसरे को प्यार करते हैं, घटनाओं की भी ऐसी सृष्टि की है जिसमें एक का दूसरे पर प्यार प्रकट हो किंतु कथोपकथन एवं चस्तु-विन्यास से उल्टी अनुभूति होती है। वे यदि ज्ञान भर को मिल जाते हैं तो न केवल विचारों में किंतु क्रिया-कलापों में भी दूर-दूर होते जाते हैं।

एन्टीगोनस की यह खोज कि सेल्यूक्स ने उसकी माता को त्याग दिया और वही उसका पिता है यह भी एक दोप का उद्भव उसमें अकारण कर जाती है जिसका सम्बन्ध भटकती कथा-वस्तु से कुछ भी नहीं है।

मुरा के चरित्र में एकरसता नहीं। शायद वे नारी की एक प्रबल प्रवृत्ति का प्रकटीकरण करना चाहते हैं। खियों में साधारणतया किसी के द्वारा शीघ्र ही प्रभावित हो जाने का स्वभाव पाया जाता है। वे अस्त्राय अबलाएँ मनुष्य के विश्वास, साहस, प्रोत्साहन पर, आवेश में सर्वस्व तक न्योद्धावर कर देती हैं और फिर जीवन भर पश्चाताप की आग में जलती रहती हैं। मनुष्य उन्हें अपने स्वार्थ का साधन बना दुकरा देता है। नारी कितनी बड़ी ही क्यों न हो? वह धनिक पत्नी, उच्च पदाधिकारी की पत्नी अथवा सन्नाट्-पत्नी ही क्यों न हो? नारी होने के नाते बड़ी ही हेय, तुच्छ है। वे लुभा ली जातीं, हरी जातीं, उनका सर्वस्व लूटा जाता है, उन्हें धोखा दिया जाता है, उनके स्वत्व छीने जाते हैं, उनमें मस्तिष्क-शक्ति का अभाव समझा जाता है। वे माता और सहगामिनी, अद्विग्नी होकर भी निम्न-स्थिति में निवास करने के लिये वाघ की जाती हैं। नाम होता है पुरुष का, पुत्र का, पिता का। कन्या, पत्नी या माता को कहीं स्थान नहीं। अस्तित्व नहीं। धन-सम्पत्ति पर अधिकार नहीं। लब तक भोजन हो खालो, कपड़े हों पहनलो, इसके बाद उसका जीवन कुछ नहीं। यही तो है न नारी। संसार-ज्ञान से शून्य होने के कारण; निर्वल होने के कारण, भादुक, उदार होने के कारण, कठोरता, क्रूरता, अद्यनीयता आदि गुणों के अभावों के द्वारा दुःख सहा करती है। मुरा की स्थिति ऐसी ही रही। सन्नाट्-पत्नी होकर वह शुद्ध रही। सन्नाट्-माता होकर भी वह शुद्ध रही। उसकी कहीं कोई आवाज नहीं रही। चाणक्य ने उसे अपने कार्य-

साधन का यंत्र तो बनाया। किंतु उसे मुरा (!) के अतिरिक्त पक भी शादर का शब्द नहीं कहा। राय महोदय मेरे रायाज से फरना तो ग्रायद नारी के हृसी रूप का चित्रण चाहते थे किंतु उनसे वैमा यह उत्तर न सका है, विकृत हो गया है। मुरा में स्वामिमान-रहित हीन भाव है। महत्वा-कांचा का अभाव है।

राय के पात्र वालकों का-सा अभिनय करते हैं। उनमें प्रीदावस्था-जन्य गम्भीरता का ग्रायः अभाव पाया जाता है। कथावस्तु एवं कथोप-कथन से नन्द का राज-दरवार भाँड़ों की ब्रीड़ा-स्थली अधिक दिसाई देता है। राज-समाजोचित द्यवहार एवं योलचाल का भी राय महोदय को ज्ञान नहीं था। इस कथन की पुष्टि वाचाल के चरित्र से हो जाती है।

चन्द्रगुप्त की कथावस्तु और पद्मिके से प्रारम्भ होती है और राय के समान ही इसका भी प्रथम दृश्य सहसा आकर्षित करनेवाला है। प्रथम

✓ चन्द्रगुप्त दृश्य से ही प्रेतक का ध्यान बढ़े ही सुन्दर ढंग से ले०—प्रसाद अभिनय की ओर लिच जाता है और वह नाटक के विषय में निश्चयपूर्वक अच्छी धारणा बना सकता है।

कथावस्तु का प्रवाह भी उतना ही आकर्षक, सुन्दर, कलात्मक और सुप्रवंधित है। राय की कथावस्तु से प्रसाद की कथावस्तु एवं पात्र भी अधिक हैं। राय को पढ़ते समय ऐसा ज्ञात होता है कि वे पात्रों का चित्रण कथासामग्री के अभाव में यथोचित नहीं कर पाते हैं और केवल स्वतंत्र प्रतिभा के बल पर ही पात्रों एवं उनके चरित्रों की सृष्टि करते चले जाते हैं। किंतु प्रसाद को पढ़ते समय ऐसा ज्ञात होता है जैसे प्रसाद के मत्तिष्क में विचारों का एक सुव्यवस्थित और धना समूह हो। इतने विचार हैं उनके पास; इतनी कथावस्तु है कि वह नाटक की छोटी सीमा से बाहर निकल-निकल पड़ती है। इधर प्रसाद ने कथावस्तु का काल (समय) की अवधि भी राय से

अधिक लम्बी ली है। राय के चाणक्य, चन्द्रगुप्त आदि पात्र प्रौढ़-वयस्क हैं किंतु प्रसाद के पात्र चाणक्य, चन्द्रगुप्त आदि राय से बहुत ही कम उम्र के हैं। चाणक्य ने विद्यालय छोड़ा ही था। चन्द्रगुप्त सिहरण छात्र ही थे। ऐसो स्थिति में कथावस्तु का प्रारम्भ होता है। अंत दोनों ने प्रायः एक समान ही रखा है; उसे नंद-वय के बाद की घटनाओं तक, जिसका एक आधार मुदाराज्जस भी है, खींचा है। किंतु प्रसाद ने राय से कुछ अधिक विस्तार दिया है। वास्तव में यदि देखा जाय तो तीसरे अंक के अन्तिम दश पर ऐसा ज्ञात होता है कि प्रसाद थब नाटक का भी अन्त कर देगे, किंतु वे उसे चौथे अङ्क तक खींच ले गये हैं; अर्थात् अभिनय का एक तिहाई भाग उन्होंने बढ़ा दिया है। अभिनयकर्ता यदि तीसरे अङ्क तक का ही अभिनय करें तो वे चंद्रगुप्त का सुंदर अभिनय कर सकते हैं। अवधि भी जितनी चाहिए उतनी ही लगेगी। ऐसा कभी अनुभव नहीं हो सकता कि कुछ कथावस्तु छूट गई है या अधूरी रह गई है। किंतु जितनी वेगवत्ती विचार धारा प्रसाद के मस्तिष्क में लहरा रही थी उसके अनुसार शायद उनकी शक्ति से बाहर था कि वे कथा को आगे न बढ़ाते। प्रसाद के विशाल अध्ययन, उच्चकोटि की कल्पनात्मक गतिभा, एवं उनके हृदय के कोसल गुरुकन ने उन्हें पात्रों की संख्या बढ़ाने के लिये भी बाध्य कर दिया। इसलिये उनकी भाव लहरी, विचार-धारा, चरित्र-चित्रण, समरस, व्यवस्थित होते हुए, सुंदर कलात्मक होते हुए भी अभिनय-कला की दृष्टि से अधिक हो गये हैं; अर्थात् अभिनय करने में अधिक समय की आवश्यकता होगी। यदि हिंदी में स्टेज का अभाव न होता तो चंद्रगुप्त की सामग्री से प्रसाद ने दो सुंदरतम् नाट्यकृतिएँ हिंदी संसार को भेट की होतीं।

दूसरी बात राय और प्रसाद को पढ़ते समय जिसकी ओर हमारा ध्यान जाता है वह यह है कि राय के दोयों का समुचित निराकरण

प्रसाद ने कर दिया है। 'वीणा' के एक लेखक की एक अंत धारणा ने जो शायद उसने प्रसाद के नाटकों को बिना देखे ही—हिन्दी नाट्र-साहित्य का भी जिसका अध्ययन प्रारम्भिक अवस्था में है—कुठारावात किया है। उक्त लेखक का कथन कि हिन्दी में राय के समान नाटक लेखक नहीं हैं जितांत त्रुटिपूर्णता, एकांशीपत और अविचारित ग्रकट करता है। प्रसाद की कथा अधिक रोचक, व्यवस्थित, संतुलित चरित्र-चित्रण पूर्ण, समरस, उच्च और उनके भनोनुकूल हैं। पात्रों की भाषा, बोलने का ढंग, विचार ग्रकट करने की शैली उत्तम, विशद, आख और नाटकोपयोगी है। अभिनय में आये हुए स्थानों का नर्णन, उनके संवंध के कथानक यथातथ्य और इतिहास प्रमाणित हैं तथा यह ग्रन्थ करते हैं कैसे उसी समय का चित्र हम देख रहे हैं। राय में ये बातें नहीं। उनके चित्र थार्डुनिक से लगते हैं। प्रसाद के पात्र सभा, दर्दार किसके सामने कैसे बोलना आदि के नियमों से परिचित हैं किंतु राय के पात्र अपरिचित।

प्रसाद के चन्द्रगुप्त पर विचार करते समय उनकी कल्पितय मूल-प्रवृत्तियों पर विचार करना आवश्यक है। ये प्रवृत्तिएँ प्रसाद में क्या काव्य, क्या कहानी और उपन्यास, क्या नियंथ तथा नाटक में सर्वश्र पाइ जाती हैं। इन्हीं के कारण प्रसाद प्रसाद हैं और इन्हीं के सर्वश्र प्रयोग के द्वारा अथवा स्वभावतः प्रविष्ट हो जाने के कारण जहाँ उनकी रचनाओं में काव्यत्व, स्थायित्व प्रायः चरम कोटि का मिलता है वहाँ विभिन्न चेत्रों की कलात्मकता का अवश्य कुछ न कुछ हास हुआ है। इन्हीं के कारण उनका काव्य एवं काव्य-गत, सौंदर्य अवश्य अर्तिम सीमा पर पहुँच गया है किंतु उपन्यासों, कहानियों एवं नाटकों के चेत्रों में इन प्रवृत्तियों ने प्रसाद को न तो उनके टेक्निक का ध्यान रखने दिया और न वह उच्चकोटि की कलात्मकता का दिग्दर्शन कराने दिया जिनसे उत्तम

विषयों की विशेषता प्रकट होती है। चन्द्रगुप्त में भी ये ही प्रवृत्तिएँ प्रचुर मात्रा में पाई जाती हैं किंतु अन्य रचनाओं से बहुत कम। इसलिये चन्द्रगुप्त का स्थान नाटकीय रचनाओं में श्रेष्ठतम माना जाना चाहिए।

(१)

प्रसाद की काव्य प्रवृत्ति सर्वत्र और प्रमुख रूप से प्रविष्ट हो जाती है। हमारा ध्याल है प्रसाद उसे रोकने में अपने को सर्वधा असमर्थ पाते हिं; इतनी प्रश्ना है यह प्रवृत्ति। उनका क्वि प्रत्येक स्थल पर सजग रहता और वह पूर्वक अपना उच्च स्थान प्राप्त कर लेता है। इसीलिये प्रेषक के इदान का नाटकीय कथावस्तु की अपेक्षा उसके गीत-जन्म संगीत एवं काव्य की और सहसा आकर्षित हो जाना सरल और संभव है। उनके गीत हीने काव्यपूर्ण, मनोरम, सरस, प्रवाहयुक्त, आकर्षक एवं भगवयुक्त हैं कि वरवश हमारा ध्यान उनमें तलजीन हो जाता है। न प्रेषक कथाधरम्भु किंतु प्रेषक स्वयं अपने को भी भूल सकता है। काव्य की यही प्रवृत्ति गणया कथोपकथनों में भी दृष्टिगोचर होती है। काव्य और दर्शन का इच्छना सुन्दरतम सामंजस्य और इतने प्रमाण में यह वेचल प्रसाद की अपनी विशेषता है। और न वेचल भारतीय अपितु विश्व-साहित्य के श्रेष्ठतम अमर साहित्यिकों एवं कलाकारों में उन्हें उचित स्थान अवश्य दिलायेंगी।

(२)

इस कलाकार की अध्ययन और दर्शन की प्रवृत्ति ने कला और साहित्य का अप्रतिम उपकार किया है। इसीलिये प्रसाद की रचनाओं में न केवल उनकी प्रतिभासा का दिग्दर्शन होता है किंतु उनके अध्ययन और दर्शन के सारतत्त्व का भी जो कि काव्य के साथ मिलकर अमरता और चिरस्थायित्व की सुविधा करता है यद्यपि वाहृतः वह कुछ अंशों में टेक्निक एवं वाहृय आवरण के विस्त्र प्रतीक होता है। प्रसाद की यह भी एक महत्वी चिशिष्टता है कि अध्ययन और दर्शन सीधे उनकी

रचनाओं में नहीं आये हैं। ये कला को आगे रमरुर उसके पीछे से अपना कार्य करने हैं। वे कला के भूँह से बोलते हैं; कला उनके आदेश पर अपना पैर बढ़ाती है, किन्तु वे कला के हतने निकट स्थान-स्थान पर आ गये हैं कि पाठक, प्रेतक अथवा कला प्रेमी पर, कलाविद पर प्रकट भी हो जाते हैं। यहाँ प्रसाद दोषी हैं। कला-प्रदर्शन के समय जिस संयम की, निय्रह की पृथक् रह कर काम करने की अविवार्य आवश्यकता होनी है उससे च्युत हो जाते हैं। उनकी कतिपय रचनाओं में तो यह प्रवृत्ति हतनी आगे आगई है कि कला और दृष्टि में भेद करना कठिन हो जाता है। चन्द्रगुप्त में वे कहीं अधिक दूर हैं।

चन्द्रगुप्त पर विचार करते समय तीव्री बात उनमें शृंगारिक भावनाओं का होना है। प्रसाद ने 'छी-हृदय' पाया है। उनके नर-शरीर के रोम-रोम में नारी व्यास है। मेरे कहने का आशय यह है कि खी-उचित कोमल, सरस, भावुक भावनाएँ उनमें सिर से पैर तक ओत-प्रोत हैं। हतनी सरस, हतनी कोमल भावनाएँ, भाव लहरिएँ उनमें प्राप्त होती हैं कि उन्हें खी-हृदय कहने के अतिरिक्त शब्द नहीं मिलते कि मैं अपने को स्पष्ट कर सकूँ। एक सुन्दरतम नारी की कल्पना कीजिये जो सर्वगुण-संपन्न भी है। प्राचीन शास्त्रज्ञों ने पद्मिनों की कल्पना की थी जिसमें वे अपने भाव प्रकट कर दिया करते थे। उपमें जितनी सुन्दरता एवं गुण हो सकते हैं वे सब प्रसाद की रचनाओं को विशिष्टताएँ हैं।

इसी के अंतर्गत प्रसाद की शृंगारिक भावनाओं का स्थान है। शृंगार से मेरा आशय संयोग एवं विप्रलंभ दोनों से है। शृंगार को रसराज कहते हैं। यह कथन सकारण है और प्रसाद की रचनाएँ इसकी ग्रामाण हैं। मानव-जीवन शृंगारिक भावनाओं से ओत-प्रोत है। सब देशों और कालों में इसका प्रभाव लक्षित होता है। यह एक ऐसा व्याप

तब है जिससे दुःखी, संतस-संत्रस्त पीड़ित विश्व बुद्ध सांत्वना प्राप्त करता है। वीर-गाथा-काल में भी जब वीर भाव सर्वोपरि और ध्यापकथा तब भी इसी शृंगार का आधार ग्रहण कर वीर भावों को प्रश्रय दिया जाता था। इसी के समान दूसरा रस कहणे हैं। काव्य और साहित्य में करुण एवं शृंगार के सम्बन्ध में काफी विवाद विद्यमान रहा है। मेरी इष्टि में अपने-अपने स्थान पर दोनों रस श्रेष्ठ तर्फ हैं। प्रसाद तो करुण का कलाकार है। प्रसाद की करुणा करुण रस के अन्तर्गत आने के साथ चिप्रलंभ-शृंगार की शृंगार भी है। इस महान्, सर्वतोमुखी प्रतिभा के दाशंनिक कवि ने शृंगार और करुणा का इतना सामंजस्य किया है कि उसका एक पृथक स्थान मान लेने के लिये हमें बाध्य होना पड़ेगा। पाश्चात्य उच्चकोटि के लेखकों एवं कवीद्वयीद्वय में भी शृंगार, करुण और सर्वतोमुखी प्रतिभा मिलती हैं किंतु पृथक पृथक, सुन्दर सामंजस्य केवल प्रसाद में। कभी-कभी हमारे मस्तिष्क में यह विचार उठता है कि प्रसाद का अनुकरण उनके समय में क्यों नहीं हुआ। अनुकरण की चेष्टा तो अवश्य हिंदी साहित्य में दिखायी देती है किन्तु ध्यापक प्रवृत्ति नहीं। नव साहित्यकारों ने या तो अनुकरण ही नहीं किया है और यदि किया है तो असफल। हाँ इतना मेरा विश्वास है कि प्रसाद का अनुकरण होगा, अवश्य होगा, किंतु एक समय बाद जब कि हिंदी साहित्य काफी प्रौढ़ हो जायगा। आज भी इसके प्रारम्भिक चिह्न इष्टिगोचर होने लगे हैं। प्रसाद हिंदी भाषा की अब तक की प्रौढ़ता से काफी ऊँचे उठ गये थे। और इसीलिए उनका अनुकरण कम हुआ।

प्रसाद के नाटकों में सी यही शृंगारिक भाव अर्थात् युरुप और स्त्री में, तरुण और तरुणी में तरुणाचस्था के प्रथम सोपान पर जो सहज भाव एक दूसरे को एक में मिलाने के, आकर्पित करने के उठते हैं, एक दूसरे में समाजाने के, तब्बीन हो जाने की तरंगे उन्हें उद्वेलित करती

रहती हैं और लो भाव प्रौढ़ावरथा एवं चुदावस्था में परिपक्व हो स्थायित्व प्राप्त करते हैं, सच्चे और शुद्ध प्रेम को संचार करते हैं वे प्रसाद में प्रचुरता से प्राप्त होते हैं।

मुद्राराजस और रौय के चन्द्रगुप्त में चन्द्रगुप्त का चरित्र उपेक्षित सा ही रहा है, उसको न तो विशद व्याख्या हो मिलती है और न उसमें मानवत्व या वीरत्व के भाव ही। मुद्राराजस में यदि उस पर ध्यान नहीं दिया गया तो वह खटकता अवश्य है किंतु नाट्यकार को जिस दृष्टि को दिखाना अभीष्ट है उसके लिए आवश्यक नहीं। इसलिए वह जम्म है, किंतु रौय में चन्द्रगुप्त की अवहेलना उपेक्षणीय नहीं। इस दृष्टि से प्रसाद के चन्द्रगुप्त का चरित्र-चित्रण अत्यन्त ही उत्तम हुआ है। किसी भी चन्द्रगुप्त नाटक में चन्द्रगुप्त-पात्र को जितना स्थान दिया जाना चाहिए और उसका चित्रण किया जाना चाहिये इसका ध्यान प्रसाद को वरावर था, इसीलिए उनके नाटक में चन्द्रगुप्त का भी चाणक्य के समान ही एक विशिष्ट स्थान है। इसमें प्रधान पात्र चाणक्य नहीं किंतु चन्द्रगुप्त ही है और उसी के अनुरूप उसका चरित्र चित्रण हुआ है। चाणक्य उसका महत्वाकांक्षाओं एवं उद्देश्यों का पूर्ति का समान सहयोगी है क्योंकि उसकी भी अपनी महत्वाकांक्षाएँ और उद्देश्य हैं।

चन्द्रगुप्त एक वीर और उत्साही युद्धक है और उसमें वे भाव अंत तक बने रहते हैं। चाणक्य के रूप होनाने पर भी उसमें बने रहते हैं। इसमें यह सूचित होता है कि ये भ्राव स्थायी और स्वतंत्र रूप से थे, न कि चाणक्य के प्रोत्साहन आदि के द्वारा। इसी प्रकार उसमें स्वतंत्र दुदि का अभाव भी नहीं है। प्रसाद ने इस नाटक में न केवल वीरोचित किंतु राजवंशोचित कोमलता का दिग्दर्शन भी कराया है जो उसकी दुर्लक्षण का चिह्न नहीं बल्कि राजकुमारोचित

कोमलता है। इस घटना की सृष्टि के द्वारा चंद्रगुप्त के चित्रकी पूर्णता होती है। मगध त्यागकर चाणक्य और चंद्रगुप्त शायद पंचनंद के बन-प्रांत में से चले जा रहे हैं। कठोरवती तपत्वो चाणक्य न तो थक्ता ही है। और न उसे प्यास की वाधा ही सताती है किंतु चंद्रगुप्त थक जाता है। उसे प्यास बेहोश कर देती है। यद्यपि चाणक्य उसका गुरु है। उने वह सम्मान की दृष्टि से देखता है किंतु पानी के लेने के लिये उसे ही जाना पड़ता है। इस समय उनमें गुरु शिष्य का संवंध नहीं बहिक पिता पुत्र का पा संवंध और प्रेम पाया जाता है।

यहाँ उसमें मानविक और राजसिक कोमलता है। चंद्रगुप्त का चित्रण एक युवक की दृष्टि से भी ठीक उत्तरा है। उसका कानेलिया की ओर आकर्षित होने लगना प्रेम की प्रारंभिक अवस्था का दोतक है। युवावस्था के इस प्रारंभिक प्रेम का सूचम निर्दर्शन प्रसाद ने बड़े ही सुन्दर ढंग से चंद्रगुप्त में किया है। प्रारंभ में प्रेम का एक केवल आभास होता है। एक छाया, एक भाव होता है और वह भी अस्पष्ट, एक सहज आकर्षण के रूप में। शनैः शनैः यह भाव परिपूर्ण होता जाता है और अन्त में चंद्रगुप्त तथा कानेलिया का विवाह अस्वाभाविक, खटकनेवाला अथवा वर वधु में से किसी को अहितकर प्रतोत नहीं होता। कानेलिया का भारत से पूर्व परिचय के द्वारा यह बात भी नहीं खटकती कि संसार के उस काल में एक यूनान निवासिनी बालिका किस प्रकार अति सुदूर माध्यम में सुखपूर्वक रह सकेगी, इस भाव का विकास भी योग्य, स्वाभाविक और सुन्दर है।

कल्याणी एवं मालविका का प्रेम भी चंद्रगुप्त के साथ गूँथकर प्रसाद ने इस अवस्था लनित स्वाभाविकता का सज्जन किया है। अविवाहित अवस्था में प्रायः ऐसा ही होता है। प्रेम विभिन्न व्यक्तियों में अंकुरित होता ही रहता है। चंद्रगुप्त मालविका वो भी चाहने लगा

था और कल्याणी का तो उससे वचपन का प्रेम था ही वही युवावस्था में तरुणार्ह के प्रेम में परिणत हो गया ।

चन्द्रगुप्त मातृ-पितृ-भक्त भी अवश्य है । उनके प्रति उसमें प्रेम-भाव है, कर्तव्य की प्रेरणा है किंतु इस भाव का सर्वथा उचित दिग्दर्शन शायद इसीलिये नहीं हो पाया कि प्रसाद का अभीष्ट चाणक्य के चित्रण की पूर्णता है और चन्द्रगुप्त की सब ही वातों का चित्रण नाटक की सीमित सामग्री के अनुपयुक्त होता । किंतु उसके माता-पिता की सृष्टि कर उसमें योग्य शासक के कर्तव्य को सर्वोपरि दिखाने की चेष्टा संचेप में की गई है । चाणक्य के कार्यों से रुष होकर वे चले जाते हैं । चंद्रगुप्त क्षुब्ध तो हो उठता है किंतु परिस्थितियों और चाणक्य के प्रभाव के कारण विवश हो जाता है और उसकी विवशता का यही भाव उसमें सदा बना रहता है । कर्तव्य परायणता का दिग्दर्शन तो हमें उस समय होता है जब से मौर्य-सेना१पति—चंद्रगुप्त-पिता दाण्ड्यायन के आश्रम में चाणक्य का धध करना चाहते हैं और असफल होते हैं । चंद्रगुप्त-शासक के रूप में उनके साथ उचित न्याय करना चाहता है ।

बीरता का दिग्दर्शन तो कहूँ स्थानों पर हुआ है किंतु फिलिप्स को हम्म में सारकर पुरुं चाणक्य और सिहरल आदि के व्याग देने पर सेत्यूक्स से युद्ध में सामना करते समय वो उसके भाव प्रदर्शित हुए हैं, जिस बीरता से वह लड़ा है वह उसके योग्य है । चाणक्य को उसका पूरा सहाय रहा है । उसका मस्तिष्क उसके साथ रहा है किंतु उसमें भी बुद्धि, चातुर्य, रण-कुशलता पूर्व बीरता भी, सन्नाट् होने योग्य जूमता थी । सन्नाट् होने योग्य इसी प्रमता-प्रदर्शन के कहूँ अवधर प्रसाद जाये हैं जिनसे यह प्रकट होता है कि चंद्रगुप्त केवल चाणक्य की कृपा से ही सन्नाट नहीं हो गया था जैसा मुद्राराज्य स या राय के चंद्रगुप्त में प्रकट

होता है और इसी ऐतिहासिक तथ्य का दिग्दर्शन जिसका साहित्य में प्रायः समुचित निर्दर्शन नहीं हो पाया था, प्रसाद ने किया है।

प्रसाद चंद्रगुप्त द्वारा एक प्रवाद का और खंडन करना चाहते हैं। वह है उसके सम्बन्ध का नीचजन्मा होना। इसका खंडन उन्होंने भूमिका में भी किया है जो तर्कयुक्त है। इसी का दिग्दर्शन संचेप में चाणक्य द्वारा किया जाता है। पर्वतेश्वर पहले तो चंद्रगुप्त की इसलिये अवहेलना करता है कि वह शूद्र है किंतु चाणक्य—ग्राहण—उसे उसकी विभिन्न अवसरों पर की गई वीरताओं के प्रदर्शन से यह सिद्ध कर देता है कि वह ज्ञानिय कुलोत्पन्न है और इसीलिये सम्राट होने योग्य है। पर्वतेश्वर की यह शंका उस समय ही नहीं रही होगी किंतु जनता में भी इसी कारण उसका विरोध हो सकता था। इसी का निवारण चाणक्य ने वही ही कुशलता और सरलता के साथ किया है। चंद्रगुप्त के सम्राट होने के मार्ग की बाधाओं के साफ करने का कार्य चाणक्य बराबर करता रहा है और उसके लिये ऐसा चाताक्षरण तैयार करता रहा है ताकि एक व्यवस्थित शासन को हस्तगत करने में उसे सुविधा हो। चाणक्य ही निस्पृह भाव से चंद्रगुप्त के लिये मगध में यह महान् क्रांति उपस्थित कर सका। इन्हीं कारणों से हमारी शंकाओं का समाधान हो जाता है कि चाणक्य के सम्बन्ध न केवल गुरुत्व के सम्बन्ध से किंतु इस कारण भी चंद्रगुप्त न त हो जाता था, विवश हो जाता था और उसकी सम्मति मान लेने के लिये वाध्य हो जाता था। उसका यह सौभाग्य था कि चाणक्य सा मेधावी, नीति-कुशल, निस्पृह, दूरदर्शी, दृढ़प्रतिज्ञ उसका सहायक था जिसके प्रभाव से साम्राज्य अथवा चंद्रगुप्त की कोई हानि नहीं हुई।

इसी वीरता के प्रदर्शन के लिये चाणक्य ने पर्वतेश्वर से अन्त में कहला लिया कि चंद्रगुप्त ज्ञानिय है और उसका प्रमाण सम्राट होने के

पहिले उसने वह दिया कि उसने चुद्रकों और माल्कों की समिलित सेना का सफलता के साथ नेतृत्व ग्रहण कर विश्व-विजयी अलज्जेन्द्र के भी छुकके छुड़ा दिये ।

‘चंद्रगुप्त में खटकनेवाली वात है उमके ‘सहसा प्रवेश’। ‘सहसा प्रवेश’ का प्रयोग प्रसाद करते हैं चंद्रगुप्त की वीरता प्रदर्शित करने के लिये । इसलिये भी कि चंद्रगुप्त केवल कोरा सम्राट या चाणक्य के हाथ का तिलौना नहीं था । उस पर अवलंबित रहनेवाला या उसकी बुद्धि से काम लेनेवाला सम्राट ही नहीं था प्रथम स्वर्य भी वीर, साइसी, शत्रियोचित गुण-सम्पन्न था; शद्द ब्रह्मोपनिषद् शत्रियोचित वीरता से रहित नहीं था । किंतु इस वीरता प्रदर्शन के लिये उसका प्रथेक स्थान पर कृद पड़ना सर्वथा अस्वाभाविक हुआ है । सिहरण और आंभीक वा हृष्णहोना चाहता है । चंद्रगुप्त आ कृदना है । स्वर्य सिहरण यद्यपि इनना समर्थ था कि उसके आवात-प्रत्यावात वो सँभाला सकता था । किंतु इनसे वह सूचित होता है कि सिहरण शक्ति में आभीक से कम था । इसी प्रवार वल्याणी के उपचन में सिंह का आ कृदना और चंद्रगुप्त का उमे मार गिराना भी स्वाभाविक नहीं यद्यपि आज से डेढ़ सौ, दो सौ वर्ष पहिजे के लेखकों की रचनाओं के समान रोमांचक अवश्य है, क्योंकि यहीं से प्रसाद, चंद्रगुप्त और वल्याणी में युवा-युवती लन्य प्रेम का भाव जो वालपन में सहज वालोचित था, परिणाम में परिवर्तित होता हुआ दिखाते हैं । इसी प्रकार एक अन्य स्थान पर चंद्रगुप्त का प्रवेश खटकनेवाला है । चाणक्य बंदी है । राज्ञस और कात्यायन उमे फुसला कर विरोध छोड़ने पर्व नंद का पक्ष ग्रहण करवाने की चेष्टा में बंदीग्रह में पहुंचते हैं । वहाँ भी वहाँ से चंद्रगुप्त पहुंच जाता है और बंदी चाणक्य को मुक्त करता है । इसी प्रकार दारद्यायन के थाथ्रम में जब सिकंदर चंद्रगुप्त आदि बातचीत कर रहे हैं उसी के सिलसिले में अन्त में कात्यायन का यह कथन “अलज्जेन्द्र,

सावधान !— (चन्द्रगुप्त को दिखा कर) देखो यह भारत का भावी सत्राट तुम्हारे सामने बैठा है अस्वाभाविक है ।

पर्वतेश्वर आत्मघात करना चाहता है और चाणक्य सहसा प्रवेश करता है । जहाँ पहुँचे से जिस पात्र की आवश्यकता होती है वहाँ वह उपयुक्त अवसर पर, 'सहसा प्रवेश' द्वारा उपस्थित हो जाता है । अलकासिंहरण के विवाहोत्सव के समय न मालूम कहाँ से कन्यादान करने के लिये मगध नरेश आ उपस्थित होते हैं । नन्दसुवासिनी को कुचेष्टार्थ पकड़ना चाहता है चंद्रगुप्त उपयुक्त अवसर पर आ जाता है । फिलिप्स कार्नेलिया से कुछ कुचेष्टा करना चाहता है और चंद्रगुप्त वहाँ भी सहसा पहुँच जाता है । इसी प्रकार चंद्रगुप्त और कार्नेलिया संभाषण कर रहे हैं, फिलिप्स पहुँच कर कार्नेलिया से कुछ कहने लगता है और फिर चंद्रगुप्त की ओर इटि डालता है । यहाँ भी अस्वाभाविकता है, क्योंकि स्टेज पर दोनों दातें कर रहे हों और फिलिप्स के बल कार्नी को देखे पर वे चंद्रगुप्त को नहीं, यह अनुचित है ।

इसी प्रकार प्रसाद के हूँदू-युद्ध (Duels) भी भारतीय वातावरण के रूपथा प्रतिकूल हैं । प्रसाद से इतिहासविद ने यूरोपीय हूँदू-युद्ध को भारतीय वातावरण में चित्रित कर अनौचित्य का ही प्रदर्शन किया है । हमारे यहाँ भी हूँदू-युद्ध होते रहे हैं । किंतु कन्या के लिये उस हंग के हूँदूओं का होना जैसा यूरोप में पाया जाता था वैसा कहीं नहीं पाया जाता है । कन्या-हरण, और उसके लिये राजाओं में युद्ध हुए हैं किंतु यह प्रगति के मस्तिष्क की ही नहीं उपन समझी जानी चाहिए कि वे यूरोपीय हूँदूओं को न समझने के कारण रायद भारतीय हूँदू-युद्ध समझ गये हैं । उसमें फिलिप्स और चंद्रगुप्त का हूँदू-युद्ध तो हम्य ही नहीं योग्य भी है किंतु पर्वतेश्वर का सिंहरण से, चाणक्य का राहस से हूँदू सर्वथा असंगत है । कम से कम उनका व्यक्तिकरण तो समुचित नहीं

है, यूरोपीय है, भारतीय नहीं। यद्यपि भारत में भी मानवोचित—ऐसे धात-प्रतिवात अवश्य रहे हैं और रहेंगे।

प्रथम अङ्क में शिकारी के वेश में सिल्वूकस आता है। वह अलका को देख कर पूछता है—

“सिल्वूकस— यहाँ तो तुम अकेली हो सुन्दरी !”

अलका—सो तो ठांक है।—(दूसरी ओर देख कर सहसा) —परन्तु !

देखो वह सिंह था रहा है ! सिल्वूकस उधर देखता है, अलका दूसरी ओर निकल जाती है। भी अस्वाभाविक है, यद्यपि द्विये स्वभावतः इस प्रकार के चकमे दिया करती हैं। कभी अपने हृषि-प्रेमियों को इसी प्रकार के चकमे देना उनके लिये आवश्यक दो जाता है।

इसी प्रकार गांधार नरेश का आभ्मीक से दंदन-युद्ध को लज्जारना अनुचित-सा प्रतीत होता है।

चन्द्रगुप्त का और इस नाटक के पात्रों का यहाँ ‘सहसा प्रवेश’ बढ़ा ही अरोचक हुआ है।

चन्द्रगुप्त का कार्नेलिया, मालविका एवं कल्याणी के साथ परिणामक प्रेम स्वाभाविक तो है किंतु श्रेयस्तर नहीं। इसी प्रकार उन तीनों का चन्द्रगुप्त के प्रति परिणामक प्रेम का भाव रखना भी सर्वथा स्वाभाविक है किंतु वह पुरुष और नारी की भावनाओं के समान ही अस्पष्ट हो गया है। जैसी स्वयं भावनाएँ अस्पष्ट ऐसे समय में रहती हैं इस कृति में भी वैमी की वैसी उत्तर आद्दे हैं। यह एक सुन्दरतम उनका कोटोग्राफ तो है किंतु इनके हारा जो अन्तर्द्वाद, मानसिक संघर्ष, हृदयजन्य उथल-पुथल, जो वेचैनी होना चाहिए, वह नहीं है, उस चित्र का पुनर्लार्जमेंट नहीं है जिसकी आकांक्षा इस कला-कृति में करना चाहते हैं। परं हृतना अवश्य है कि न केवल चन्द्रगुप्त में किंतु

प्रसाद के सब नाटकों के सब पात्रों में प्रसाद के एकाधिकार का प्रदर्शन ही प्रतीत होता है। स्पष्ट मालूम होता है कि उनके सब पात्र और घटनाएँ उनकी ही सृजन की हुई हैं। वे एक डिक्टेटर के समान संचालन कर रहे हैं। उनका स्थान वही है जो चाणक्य का मुद्रारात्र स या चंद्र-गुप्त में है। वे चाहे जहाँ और जिस प्रकार सफलता पूर्वक उन्हें रख सकते हैं, घटा या बढ़ा सकते हैं, बदल सकते हैं। उनके पात्रों और घटनाओं के सब सूत्र उनके ही हाथ में हैं और वे इतने शक्ति रहित और तुच्छ हैं कि प्रसाद का शक्तिशाली अध्ययन उन पर अपना एक अधिकार रखता है। यह बात प्रेमचंद से सर्वथा विपरीत है। यहाँ प्रसाद और प्रेमचंद दो मार्गों को जाते हुए दिखाई देते हैं और वह भी विरुद्ध। ऐसा ज्ञात होता है दो महाशक्तिएँ, ज्ञान के दो महान् कलाकार हिंदी माता को पूजने के लिये दो प्रतिकूल मार्गों से जा रहे हैं। प्रेमचंद की रचनाओं की यह सबसे चढ़ी विशेषता है कि वे अपने पात्रों और घटनाओं को विलकूल स्वतंत्र छोड़ देते हैं, उन्हें अपने-अपने मार्गों पर चले जाने देते हैं, उन्हें रोकते नहीं, उनका पथ भरोध नहीं करते, उनमें आधा नहीं ढालते। किन्तु उनका मत्तिपक, उनकी कला यह अवश्य जानती है कि उनके पात्र क्व क्या करेंगे? उन्हें किस प्रकार की परिस्थितियों में पहना पड़ेगा? किस प्रकार की और क्या घटनाएँ घटित होंगी? प्रेमचंद उन्हें स्वतंत्र छोड़ कर अलग हो जाते हैं। दूर से सृष्टिधर्ता के समान अपनी सृष्टि का अभिनय देखते हैं। प्रसाद जहाँ एक मेधावी सूत्र संचालक हैं वहाँ प्रेमचंद एक महान् उदार विभूति। इसीलिये प्रेमचंद के पात्र 'नाटकीय अभिनय' नहीं करते। ऐसे प्रतीत होते हैं कि हमारे जीवन से ही मिले हुए, हमारे सहयोगी, सहचर या परिचित बंधु-वांचव, पड़ोसी आदि हैं। हम और हमारा परिचित वात्ताचरण हमें प्रेमचंद में मिलता है। इससे बाहर कुछ नहीं।

चाणक्य के चरित्र में न केवल सुद्धाराच्चम पर्वं राय का चित्रण मिलता है किन्तु प्रसाद ने चंद्रगुप्त के समान ही व्यक्तिकृति उससे भी अधिक चाणक्य के सुधारने, संवारने में प्रयत्न किया है। प्रसाद का चाणक्य उन सबकी विशिष्टताओं को तो लिये हुए ही किन्तु उनके चाणक्यों में जो अपूर्णताएँ थीं उनका समुचित और बड़े ही सुन्दर ढंग से निराकरण चंद्रगुप्त में हुआ है पर्वं उसका चरित्रन केवल एक विद्वान्, राजनीति कुशल प्रतिज्ञा के उद्देश्यवाले चाणक्य का है; न केवल वौद्ध विद्वेषी अथवा ब्राह्मणत्व के पक्षपाती चाणक्य का है किन्तु एक महान् मेधावी राजनीतिक सूत्रों के संचालक, कमांडिंग नेचर के व्यक्ति, अलौकिक, दूरदर्शी, 'भारत एक और अखण्ड है' की पूर्ति करने के लिये समस्त उत्तरापथ को एक सूत्र में संघटित करनेवाले और उसे संघटित धरके मगध में एक महान् क्रांति को सफल करने में अग्रगण्य चाणक्य का है। सेत्युक्त से विरुद्ध बिस प्रकार की सैन्य संचालन की नीति उसने अखत्यार की वह अप्रतिम है। साहस और वीरता में जहाँ चंद्रगुप्त को श्रेय मिलता है वहाँ राजनीति-संग्रहण के लिये उसका सदुपयोग करने में चाणक्य का हाथ है। वह पिछली पर्वतेश्वर की पराजय के कारणों को समुचित हृदयंगम कर यूनानी राजनीति को भी पराजित कर भारतीयता का गौरव बढ़ाता है।

भारतीयता और मगध-प्रेम तो उस ही नस-नस में व्याप्त है। उसमें द्वेष नहीं, नंद से भी नहीं, प्रतिज्ञा को पूर्ण करने के लिये नंद वध हुया अवश्य किंतु नंद वध का, शूर जन्मा नन्द की पदचयुति का, उसको उत्तरा रथाल नहीं था जितना मगध को सुशासित देखने का, उसे भी, धन संपत्ति और प्रसुख राष्ट्र बनाने का। इसीलिये मगध की दुर्दशा देखकर उसका हृदय दुःख और कहणा से भर जाता है। उसके हृदय में यह बात कचोटती है कि उत्तरापथ के अन्य प्रजातंत्रात्मक राज्य तो

स्वतंत्रता को उपयोग करने हुए फल फूज रहे हैं और मगध अभी तक साम्राज्य का स्वप्न देख रहा है।

प्रसाद की शृंगारिक भावना ने चाणक्य को भी उसी रंग में रंग दिया है। युवा चाणक्य में सुवासिनी के प्रति युवकोचित प्रेम है, प्रेम की टीस है। राजनीतिक प्रपंचों में फँपा हुआ, युद्ध में निष्ठा, क्रांति को सफल बनाने में दक्षित्त, मगध से निर्वासित और बाहर रहनेवाला चाणक्य भी बालपन की सखी, तरुणाई की भावना को प्रश्रय देनेवाली सुवासिनी को नहीं भूजता। वरावर उसके हृदय को वह स्पर्य कर जाती है, किंतु राष्ट्र का प्रेम, उत्तरापथ का कल्याण, वाह्यणत्व की उच्चतम ध्याग तील भावना, उक्त ज्ञान-पिरासा, विश्व के स्थायी कल्याण के लिये निष्पृहता और अकिञ्चनता की भावना सर्वोपरि रहती है। मगध को एक महान् साम्राज्य में संघटित करनेवाले सम्राट चन्द्रगुप्त पर एक छुत्र प्रभुत्व रखनेवाला वह चाणक्य राम की नाईं साम्राज्य को छोड़ देता है। प्रणय को दुकरा देता है। कुसुमपुर नहीं उपवन को अपना निवासस्थान बना लेता है। उसके इस महान् ध्याग से चाणक्य के न केवल सब राजनीतिक दोष छिप जाते हैं किंतु उसका चरित्र निखर जाता है, उच्चतम, उज्ज्वलतम हो जाता है।

मुद्राराज्य में वह केवल एक राजनीति-कुशल, राजनीतिक चालों का सूष्ठा और उनको छिन्न-भिन्न करनेवाला है जिसने अपनी चालों से, विद्वता एवं संघटनशक्ति के द्वारा चंद्रगुप्त को निपक्ट सम्राट बना दिया। राय में वह इनके अतिरिक्त मानव भी है। अपनी प्रिया और पुत्रों के वियोग से दुःखी भी। संस्कृतियों, युनानी एवं भारतीयों का संयोजक। किंतु प्रवाद में वह यह सब कुछ तो है ही किंदु उससे कहीं, किनना ही अधिक वह ध्यागशील, भारतीयना का संपोषक, रक्षक और प्रेमी भी है। प्रथम अंक के प्रथम दृश्य से चाणक्य की उज्ज्वल प्रतिभा

एवं मेधा-शक्ति के हमें दर्शन होते हैं और अंत तक उसी प्रखरता के साथ वे हम पर अञ्जुरण प्रभाव ढालती चली जाती हैं।

चाणक्य के आधीक के प्रति ये कथन इसके प्रमाण हैं, “राजकुमार व्राजुण न किसी के राज्य में रहना है और न किसी के अन्त से पलता है; स्वराज्य में विचरता है और अमृत होकर जीता है।... व्राजुण सब कुछ सामर्थ्य रखने पर भी, स्वेच्छा से इन माया रूपों को उकरा देता है। प्रकृति के कल्याण के लिये अपने ज्ञान का दान देता है।”

“इसी से दस्यु और मलेच्छ साम्राज्य बना रहे हैं और आर्य जाति पतन के कगारे पर खड़ी एक धर्म की राय देख रही है।”

आगे पुनः चाणक्य चंद्रगुप्त और सिंहरण की इस वात्रावस्था की मित्रता को उत्तेजित करते हुए कहता है ताकि वह मित्रता के बज चाणक्य न रहे रथायी होकर भारत कल्याण और संघटन करने में समर्थ हो सके। “तुम मालव हो यह मागध; यहाँ तुम्हारे मान का अवसान है न? परन्तु आत्म सम्मान इतने से ही संतुष्ट न होगा। मालव और मगध को भूल कर जब तुम आर्यवर्त का नाम लोगे तभी वह मिलेगा।”

प्रथम धंक के प्रथम दृश्य के उत्तर कथन ही व्यापक बनकर समस्त नाटक में फैल गये हैं और इन्हीं के अनुकूल; इन्हीं सिद्धांतों की रचा के निमित्त सध ही पात्रों का—न केवल चाणक्य का—चरित्र चित्रण किया गया है। चाणक्य की भविष्य चाणी अथवा दूरदर्शिता जिसे उसने इसी दृश्य में प्रकट की है सारे नाटक की घटनाओं को संचालित करती है। “आगामी दिवसों में, आर्यवर्त के सध स्वतंत्र राष्ट्र एक के अनंतर दूसरे विदेशी विजेता से पददलित होंगे।... नंद पैतेश्वर के

कारण यह शूद्र-हृदय आम्भीक यवनों का स्वागत करेगा और आर्य-वर्त का सर्वनाश होगा ।”

चाणक्य प्रथम तच्छिला गुरुकुल के कुलपति के रूप में हमारे समक्ष आता है । यहीं से उसका महत्व और प्रतिभा, उसकी दूरदर्शिता, राजनीतिज्ञता और सूष्मज्ञान और पर्यवेक्षण शक्ति का दिग्दर्शन हमें प्रसाद करते हैं । गांधार के राजपुत्र के प्रति उसके कथन एवं उसे विद्यालय से बाहर चले जाने का आदेश दे देना, उसकी निर्भयता और परिस्थितियों को सँभालने की शक्ति का प्रतिचय देते हैं । तच्छिला से घटनाएँ मगध में पहुँचती हैं । चाणक्य कई वर्षों के पश्चात् मगध पहुँचा है । उसके पिता का, ज्ञांपदी का पता नहीं है । वाल सहचरी सुवासिनी जिसकी स्मृति आज भी उसके मानस पर ताजी है नन्द की रंगशाला की अभिनेत्री बन गई है । उसका मानव-हृदय दूटने जगता है । बाद में नन्द की राज सभा में उसकी निर्भीकता, सत्यकथन, राजनीतिक दूरदर्शिता की अवहेलना कर उसका अपमान किया जाता है । उसे दृढ़ प्रतिज्ञ समझ कर राज्यस और कात्यायन उसे राज्य की नौकरी आदि का प्रलोभन देकर नन्द-विरोध को ध्याग करवाने का प्रयत्न करते हैं किंतु चाणक्य के दृढ़ निश्चय के कारण असफल होते हैं । इसी समय चंद्रगुप्त भी निर्वासित किया जाता है । पुनः दृश्य गांधार और पंचनद पहुँच जाता है । दाण्डव्यायन ऋषि के आश्रम में भेट होती है । ऋषि के मुँह से चंद्रगुप्त के सम्राट होने का कथन करवाया जाता है । चंद्रगुप्त सेल्यूक्स का अतिथि होकर यूनानी रण-नीति और युद्ध-संचालन सीखता है । फिर सब मिल कर पर्वतेश्वर की सहायतार्थ आते हैं । चाणक्य पर्वतेश्वर से इसके पहिले ही यह प्रयत्न कर लुका था कि वह चंद्रगुप्त की सहायता कर मगध को हस्तगत करने में सहायता दे ताकि सिकदर से सामना किया जा सके । यह बात नहीं हो सकी और पर्वतेश्वर को पराजित हो

सन्धि करना पड़ी । इस युद्ध में भी चाणक्य आदि की सहायता पर्वतेश्वर को परोक्ष रूप में रही । बाद में घटनाएँ मालव में पहुँचती हैं और चाणक्य की संघटन करने की शक्ति के कारण अलचैन्द्र की दुर्दशा होती है । अलका और सिहरण का विवाह होता है । इसी समय चाणक्य की राजनीतिक दुरदर्शिता राज्य को मूर्ख बनाकर रोकने में एवं मगध सेना को रोक कर उसे अपनी सहायता भेजने में प्रकट होती है । राज्य को कल्याणी को लौटा ले जाने के लिये आया था, चाणक्य के चक्र में आ जाता है और जब तक अलचैन्द्र भारत से बाहर नहीं चला जाता तब तक विवश हो उसे पड़ा रहना पड़ता है । राज्य और चाणक्य का संघर्ष जो मुद्राराज्य के प्रकट होता है उसका आभास मात्र प्रसाद ने यहीं दिया है । इसके पश्चात् चाणक्य मगध में क्रांति करवाने के कार्य में जुट जाता है । राज्य को पुनः मूर्ख बनाकर उसकी सुदिका प्राप्त करता है ।

अब फिर घटनाओं का कम मगध पहुँचता है । क्रांति की पूर्णतैयारी हो चुकी है । राज-सभा में प्रजा के द्वारा जिसका नेतृत्व चाणक्य के हाथ में है नंद का विरोध किया जाता है और उस पर कई दोष लेंगाये जाते हैं । प्रजा उसके वध की याचना करती है किंतु चाणक्य शायद यदी बनवाना चाहता था किंतु बीच में शक्तार छुरा भोंक कर उसका वध कर डालता है । वह चंद्रगुप्त को सम्राट् बनवाता है । इसके कुछ समय पश्चात् सेल्यूक्स अलचैन्द्र की अपूर्ण भारत-विजय को पूर्ण करना चाहता है । इस समाचार से चाणक्य उसके विरोध करने के लिए संलग्न हो जाता है । बचावठी तौर पर चंद्रगुप्त और चाणक्य में झगड़ा होता है । चाणक्य यहाँ से चल देता है । चंद्रगुप्त और सेल्यूक्स का सुदूर होता है । चाणक्य परोक्ष रूप से चंद्रगुप्त की सहायता करता है । राज्य को जो सेल्यूक्स से जाकर मिल गया था सुवासिनी के द्वारा

फिर मगध को वापिस लौटवाता है। चाणक्य और चंद्रगुप्त फिर मिल जाते हैं। चाणक्य इसके पश्चात् चंद्रगुप्त और कार्नेलिया का तथा राज्य सुवासिनी का विवाह करवा कर एवं मगध का मंत्री-पद राज्य के हाथ में सौंप कर तपोवन में चला जाता है। इससे उसके चरित्र की दो ओरों पर प्रकाश पड़ता है। एक तो यह कि कार्नेलिया एवं चंद्रगुप्त के विवाह द्वारा उसने दो महान संस्कृतियों का ही मानो पाणि-ग्रहण करवा दिया यह सोच कर कि अलक्ष्मी और पर्वतेश्वर तथा सेल्यूक्स एवं चंद्रगुप्त में जो लालातार संघर्ष हुए उनकी परंपरा मिट जावे और दो महान जातिएँ; महान राष्ट्र पारस्परिक आदान-प्रदान द्वारा विरोध मिटा कर एक दूसरे के सहायक हो सकें। उसकी यह नीति ऐतिहासिक दृष्टि से भी वास्तव में सफल हुई। दोनों संस्कृतिएँ मिलीं और उनका संघर्ष पूर हो गया।

दूसरे बात राज्य-सुवासिनी विवाह कराने के पश्चात् राज्य को मंत्री पद देकर विरक्त हो जाने की है। इसके प्रकृत होता है कि चाणक्य ने इतने राजनैतिक उथल-पुथल, साम्राज्य-संघटन आदि कियाएँ किंतु उसकी आतंकिक मूल प्रवृत्तिएँ विरक्ति की ओर ही थीं और उसने परिस्थितियों से लाचार होकर ही इनमें भाग लिया था। निस कार्य का ग्राम्य वह करता उपे पूर्ण अवश्य करता। इसीलिए जहाँ उसने नंद-वध की प्रतिज्ञा की थी वहाँ नंद-वध के पश्चात् चंद्रगुप्त को निष्कंटक कर के एक सुदृढ़ साम्राज्य स्थापन करना भी उसका अंतिम ध्येय हो गया था और इसी ध्येय के पश्चात् उसे बाह्यप्रस्थानम् ग्रहण करना योग्य था और वही उसने किया भी। राज्य को वह अवश्य ओर्य, विद्वान्, देश-भक्त एवं कार्य का पक्का समर्भता रहा होगा। तब ही राज्य निसने उसका, चंद्रगुप्त का विरोध किया उसे ही दुला कर; समझा कर, प्रयत्न कर मंत्री-पद सौंपा। ऐसा ज्ञात होता है उस समय राज्य के अतिरिक्त

कोई राज्य-कार्य सेंभालने योग्य, मगध-भक्त व्यक्ति न होगा। जिस पर साम्राज्य-भार सौंप कर वह निश्चित हो सके। अन्त में उसकी निवृत्ति मूलक प्रवृत्तियों के कारण ही वह इन सब घटनाओं को घटित करवा कर इनसे पृथक हो गया।

राज्य का चरित्र प्रसाद मुद्राराज्य के राज्य के योग्य न उतार सके। इनका राज्य पुक तरुण युवक अनुभवहीन राज्य है। जो प्रौढ़ चाणक्य के नीति-चालों में फैस कर मूर्ख उन जाता है। राजनीतिक चालों को समझने में वह सर्वथा अनभिज्ञ ज्ञात होता है। कदाचित् उसका कम वय होने के कारण। प्रसाद का उसके लिये यही स्पष्टीकरण हो सकता है। किंतु प्रसाद उसे योग्य और विद्वान् अवश्य मानते हैं। इसीलिये कानेलिया के शिवणार्थ नियुक्त करवाते हैं। चाणक्य द्वारा उसे पुनः मंत्री-पद प्रयत्न द्वारा दिलवाते हैं। किंतु मुद्राराज्य के राज्य की असफलता के कारण उसे मूर्ख और राजनीतिक चालों को समझने के अयोग्य समझना उचित नहीं बन पड़ा है। मुद्राराज्य में असफल होते हुए भी प्रेत्तक अयवा पाठक पर यह प्रभाव पड़ता है कि वह उदार चित्त और परिस्थितियों के ही कारण परास्त हुआ, असफल हुआ, न कि राजनीतिक अदूरदर्शिता एवं मूर्खता के कारण। किंतु प्रसाद के राज्य का पाठक या प्रेत्तक के मस्तिष्क पर यह प्रभाव पड़ता है कि वह मूर्ख रहा होगा, या मूर्ख-विद्वान् रहा होगा चाणक्य विरक्त होना चाहता होगा इससे उसने उसे मंत्री-पद सौंप दिया होगा। प्रसाद के राज्य के प्रति, उनके चरित्र-चित्रण द्वारा हमारी कोई अच्छी धारणा नहीं बनती यद्यपि वे ऐतिहासिक तथ्य की सत्यता के कारण उसे चाणक्य के द्वारा मंत्री-पद दिलवा देते हैं। प्रारम्भ में भी नंद के मंत्री-पद के समय वक्तनास के वंशज होने के कारण ही शायद—न कि विद्वत्ता के कारण—उसे वह पद मिलता है। प्रसाद द्वारा इतनी धारणा

अवश्य यन्ती है कि वह कुसुमपुर का कुसुम-प्रधान-नागरिकों में अवश्य था ।

मुद्राराज्ञस में अलक्ष्मेन्द्र के चरित्र को कोई स्थान नहीं । राय ने सूफ्फम आभ्रास दिया है । वह भी शायद भारत के प्राकृतिक सौंदर्य और वीरता के प्रदर्शनार्थी तथा हेलेन के चरित्र की पुष्टि के लिये । इस पुष्टि के लिये कि आगे चंद्रगुप्त से जो विवाह होनेवाला है उसकी पृष्ठ-भूमि तैयार हो । प्रसाद ने अलक्ष्मेन्द्र और पर्वतेश्वर के चरित्रों को अत्यधिक विस्तार दिया है । नाटक की कथा-वस्तु का समय भी तीस-चालीस वर्ष से कम नहीं है ।

इतिहास में यह बात अति प्रसिद्ध है जिसे प्रायः साधारण इतिहासक्ति भी जानता है कि सिकंदर ने भारत पर आक्रमण किया था । पौरस से उसका युद्ध हुआ था और वह इतनी वीरता से लड़ा कि सिकंदर व उसके सेनानियों के छुक्के छूट गये । सब से पहिले विजयी होकर भी वह एक साधारण नरेश से पराजित हुआ । भारत की वीरता का इस पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा । यह भी बहु विश्रुत बात है कि उसने पौरव से उसके बन्दी होने पर पूछा कि तुम्हारे साथ कैसा वर्ताव किया जाय ? और उसका उत्तर था एक नरेश को दूसरे नरेश से जैसा करना चाहिये ।

उसकी सेना ने मगध-सेना की विशालता से भयभीत होकर सिकंदर के आगे बढ़ने के आग्रह करने एवं उत्साह दिलाने पर भी आगे बढ़ने से सर्वथा इंकार कर दिया था । यह भी प्रसिद्ध है कि चन्द्रगुप्त की भेट सिवंदर से हुई थी । वापिस लौटते समय कतिपय जातियों ने मार्ग में उसे बेहद तंग किया था । इसी इतिहासानुमोदित एवं स्वान्वेषित कथावस्तु के आधार पर उन्होंने सिकंदर का चरित्र-चित्रण किया है । इसी के आधार पर ग्रीक-विजेता सिकंदर अप्रतिम वीर और साहसी

अवश्य है किंतु भारतीय वीरों के समक्ष उसे भी हार मानना पढ़ी है । भारत में विजयी होकर वह पराजित हुआ । वाद में उसकी व्यक्तिगत वीरता एवं दुर्देशा का चित्रण भी प्रसाद ने किया है ।

मालव-दुर्ग पर सिकंदर आक्रमण करता है, दुर्ग के द्वार खोलने के लिए कुछ सैनिक दुर्ग की दीवार पर चढ़कर अंदर कूदना चाहते हैं । अलका पहरे पर है । वह तीर मार कर उन्हें गिरा देती है । सिकंदर बचकर अंत में दुर्ग के अंदर कूद ही पड़ता है । वह अलका को पकड़ना चाहता है । इतने ही में सिहरण पहुँच कर सिकंदर से युद्ध करते हुए कहता है ।

सिहरण—(तलवार चलाते हुए) तुमको स्वयं इतना साहस नहीं करना चाहिए—सिकंदर ! तुम्हारा प्राण बहुमूल्य है ।

१ सिकंदर—सिकंदर केवल सेनाओं को आज्ञा देना नहीं जानता । ”

इतिहास प्रमाणित सिकंदर के इस चरित्र की प्रसाद ने पूर्ण रूप की है किंतु उसकी दुर्देशा का लो अस्पष्ट चित्र था उसको भी प्रसाद ने त्पष्ट, भारतीय गौरव के अनुकूल बना दिया है । इससे विश्व विजयी धृत्याने वाले इस ग्रीक विजेता का महत्व अवश्य कम और भारत का बढ़ जाता है किंतु यह एक ऐतिहासिक तथ्य है । अलका और सिहरण के विवाहोत्सव में सिकंदर का पहुँचना नाटक लेखक के विशेषाधिकार के अंतर्गत ही आयगा । वह इश्य कला, सौंदर्य, भारतीय अभिरुचि, नाटकीय औत्सुक्य-वर्द्धन आदि के लिए सर्वथा उपयुक्त है । इससे सिकंदर का महत्व उतना नहीं रह जाता है जितना पाश्चात्य लेखकों द्विषेपकर ग्रीक लेखकों ने चित्रित किया है ।

राय का एंटीगोनस प्रसाद का फिलिप्स दोनों का चरित्र क्रमशः हेतेन और कार्नेलिया के लिए ही चित्रित किया गया है । वास्तव में

पृथक रूप से इनका कोई महत्व नहीं। राय ने एंटीगोनस के चरित्र को बहुत मात्रा में कथावस्तु में स्वतंत्र रूप से बढ़ा दिया है। प्रसाद ने केवल फिलिप्स का चरित्र उतना ही ग्रहण किया है जितना कि कथा वस्तु के विकास और कार्नेलिया के चरित्र में सहायता पहुँचा सके। राय का एंटीगोनस उद्दत्त-स्वभावी, वीर और भावुक हृदय है, हेलेन का प्रेमी है और उसका प्रेम प्राप्त करने के लिए वह सब गुज़ करने के लिए उद्यन रहा है। हेलेन से द्विवाह होने में उसका नीच लन्मा होना वाधक रहा। सेल्यूक्स की दृष्टि से हेलेन का भी उस पर किसी समय प्रेम अवश्य रहा होगा किंतु चन्द्रगुप्त को देख लेने के पश्चात् वह अवश्य काफ़ूर होगया। एंटीगोनस हेलेन के लिए ही सैन्य संग्रह करता है, सिल्पूक्स को कैद करता है और अन्त में अपनी उपेक्षिता मात्रा द्वारा यह मी पता लगा लेता है कि वह स्वयं सेल्यूक्स का ही पुत्र है। तब वह हेलेन को बहन समझता और चन्द्रगुप्त के सामने नत-मस्तक हो जाने में अपना अपमान नहीं समझता है। इस प्रकार राय ने एक औसुक्य और विचित्र रोमांस की सृष्टि की है। कार्नेलिया के सम्बन्ध तक तो प्रसाद का फ़िलिप्स भी इसी प्रकार का है। वह उसे चाहता है। वह युवक है; वीर है। कार्नेलिया भी किसी समय बहुत करके चचपन में चाहती रही है, किंतु अब चन्द्रगुप्त के प्रति एक उद्देशित भावना उसके हृदय में उठती है और वह उस पर एक छत्र अधिकार प्राप्त कर लेती है। फ़िलिप्स द्वंद्व युद्ध के लिये उत्तेजित और ज्यग्र हो जाता है और वाद में मारा जाता है।

हेलेन अवया कार्नेलिया के चरित्र प्रायः समान हैं। दोनों भारत-प्रेमी हैं। अपने पिता सेल्यूक्स के साथ जब वह सिकंदर का सेनापति था भारत में आवी हैं। भारत का प्राकृतिक सौदर्य उन्हें मुग्ध कर लेता है। उन्हें ऐसा ज्ञात होता है कि भारत ही जैसे उनका देश हो। इसी समय उनका साक्षात् चन्द्रगुप्त से होता है और उनमें प्रेमांकुर उग आता

है। उनमें एक भावना, एक प्रेम, प्रेम की एक वैचैनी छोड़ जाता है। वे स्वदेश—यूनान—लौटने पर भी यीर, सुन्दर भारतीय युवक चंद्रगुप्त को नहीं भूल पाती हैं। वे खी हैं। युद्ध से उनका कुछ सम्बन्ध नहीं, वे भावुक हैं। उनका हृदय स्वच्छ है, वे मानव-मानव में भेद करना नहीं जानती। हृदय द्वारा शासित होना ही उनका शंगार है। इसी प्रेम के कारण वे सुदूर यूनान को भी तिलाजिंहि दे कर भारत के सुदूर प्रांत मगध में भी रहना स्वीकार कर लेती हैं। इतिहास ने जहाँ हेत्तेन धर्मवा कार्नेलिया की उपेक्षा की है, उसे विजय अथवा पराजय को एक लेन-देन-सामग्री समझा है वहाँ राय की भावुकना और प्रसाद के काव्यत्व ने हेत्तेन में प्राणों का संचार किया है। सौंदर्य की मानविक खी उचित भावनाओं को साकार रूप दिया है। एक इतिहासज्ञ वथा खाक समझ सकता है कि नारियों के हृदय में कितने घात-प्रतिघात, कितने द्वन्द्व, कितने भाव नहीं उठते होंगे? आज भी नवविवाहिता वधुएँ विनृगृह और पति-गृह के मध्य की भावनाओं से कितनी चिलोड़ित नहीं होती हैं? राय और प्रसाद में एक अन्तर भी है। हेत्तेन का चरित्र दो महान् संस्कृतियों के लिये मिलाप की भावना से अनुप्राणित है किंतु प्रसाद की कार्नेलिया संस्कृतियों के सम्मेलन से उतनी प्रभावित नहीं। वह तो चंद्रगुप्त की बीरता, उसके बीरोचित महान् कार्यों, उसकी तरुणाई से अभिमंत्रित है जो चाणक्य के मनोनुकूल विजय की एक लूट है। उसके यहाँ कोर्टशिप की प्रथा रही है। इसी प्रथा का विवाह के प्रथम दिखाना जैसे प्रसाद को अभीष्ट हो। इसी के आधार पर कार्नेलिया का पूर्व जीवन प्रसाद ने चित्रित किया है।

प्रसाद के करपिय अन्य चरित्र भी ध्यान देने योग्य हैं। दारड्यायन एक भारतीय शृंघि के उच्चतम प्रतीक हैं। केवल एकाएक विना प्रसंग के चंद्रगुप्त के प्रति भविध्य-कथन उनका उचित प्रतीत नहीं होता।

पर्वतेश्वर के चरित्र की भी रचा कर प्रसाद ने इस ऐतिहासिक तथ्य की रचा की है कि विश्व-विजयी सत्राट सिकंदर का सामना भी साहस एवं वीरता के साथ भारत का एक प्रादेशिक स्वतंत्र राज्य कर सका और वह भी पराजित होकर विजयी हुआ। वह आंभीक के देश-द्वौह एवं मगध के द्वेष-भाव के कारण, नहीं तो सिकंदर को भारत में भी उस वाह्य विजय का श्रेय नहीं मिलता जो आज मिल रहा है। पर्वतेश्वर में ब्राह्मणत्व एवं ऊँच-नीच की भावना का सृजन करना प्रसाद की कल्पना है, और चाणक्य तथा चन्द्रगुप्त के महत्व वृद्धि के हेतु वह कुछ अंशों में निराधार मूर्ख बनाया गया है। इसमें संदेह नहीं किंतु प्रसाद ने उनका आरोप दूसरी ओर कर दिया है। अलका का उसे धोखा देना उसके गौरव के योग्य नहीं हुआ। यद्यपि स्थियों में इस प्रकार का धोखा देना स्वभावतः ही पाया जाता है। इसी प्रकार अलका-सिंहरण विवाह के समय उसका उपस्थित करवाना सिकंदर के प्रभाव के कारण उचित तो है किंतु उसका गौरव जैसा उन्होंने पहिले बढ़ाया है उसके अनुरूप नहीं। बाद में उसकी दुर्दशा ही हुई है। प्रसाद का उद्देश्य शायद यही है कि पौरव जिस पर सिकंदर ने एक ऊपरी विजय पाई थी अथवा जिससे समान संधि हुई थी अथवा जिसपे वह पराजित होते-होते बच गया था वह एक साधारण भारतीय राजा था। उसका महत्व भारत में कुछ विशेष अधिक नहीं था और चाणक्य तथा चन्द्रगुप्त के समक्ष तो कुछ था ही नहीं। चन्द्रगुप्त निष्कंटक राज्य कर सके हस्तिये उसका वध हुआ था। इस वध को प्रसाद ने कल्याणी द्वारा उसके नारीत्व पर आकर्मण करने के कारण करवाया है। सिंहरण एक वीर मालव है। आंभीक एक देश-द्वौही महत्वाकांक्षी युवक है।

प्रसाद के काटकीय फाल

॥ न केवल प्रसाद की कथावस्तु में किन्तु उनके पात्रों में भी वे ही युग निचुड़ आये हैं जिनका उन्होंने चित्रण किया है। उनके पात्र उसी युग के व्यक्ति हैं। उनमें अमर मात्र, स्थायित्व, मानव में सदा रहनेवाली भावनाएँ हैं। वे केवल प्रसाद के अतीत-प्रेम के ही परिचायक नहीं हैं, केवल इतिहास के ही मूक स्तरमें नहीं हैं किन्तु उनकी वर्णना एवं कवित्व के कारण, हमारे युग के आदर्शों, युद्धों के प्रतीक हैं और साथ ही भवित्व के लिये भी पथ प्रदर्शक हैं। उनके पात्रों में कवि हैं, दार्शनिक हैं, राष्ट्रनेता हैं किन्तु उनकी चित्रिकता नहीं है। उनमें ऐसिक राष्ट्रीयता नहीं है। अमर राष्ट्रीयता की रक्षा, भारतीय संस्कृति, उसकी रक्षा का विधान और आदर्श हैं। प्रेमचन्द्र से केवल इसी स्थल पर प्रसाद आगे बढ़े हुए हैं। प्रेमचन्द्र ने जहाँ 'आज' को रंगा है। वर्तमान के आधार पर अपनी कला की नींव जमाई है वहाँ प्रसाद ने 'अतीत' के पात्रों में अपनी कला की उद्भावना की है। प्रेमचन्द्र के पात्रों का एक छोटा भाग अवश्य भूत में लीन होता जायगा और अतीत की इस युग की सुन्दरतम देन के रूप में एक सामग्री होगा। किन्तु प्रसाद में एक छोटा ही भाग अतीत का है। शेष बड़ा जांग मानवता, काव्यरक्त से ओत-प्रोत है जिसमें भवित्व के स्तर के स्तर समान हुए हैं। प्रसाद और प्रेमचन्द्र की कंतित्व इन्हीं विशेषताओं के कारण उनके पात्रों में भेद दिखाई देता है। प्रेमचन्द्र के पात्र इस युग के ही पात्र होते हैं। वे हमारे देखें-सुनें, परिचित अथवा पढ़ोसी ही हैं। प्रसाद के पात्र भारत के गौरव की बुस्त हैं जिनसे सदा प्रेरणा मिलती रहेगी, जो हम में भाव भरते रहेंगे।

प्रसाद के पात्रों में इस अतीत का, एक विशिष्ट युग का चित्रण एवं उनके चित्तम् की एक विशिष्ट दिशा होने के कारण एक साम्य, एक समरसता पाई जाती है। उनके नाटकों में कई पात्र एक ही सांचे में डले हुए से दिखाई देते हैं। इनमें विज्ञता न हो यह तो नहीं है किंतु है वह बहुत कम। उनमें उनकी अपनी शैली, अपना चित्तन, अतीत के गौरव का महाव, असहयोग आदोलन के बाद जो राष्ट्रीयता का स्वरूप देश को देखने को मिला उसकी छाया, प्रतिविवर भलकर्ता है। फिर भी पात्रों की समाजता एवं समरसता के कारण उनके नाटक विशेषकर ऐतिहासिक नाटकों के पात्र समर्पित से विचारणीय हैं यद्यपि उनमें, साम्य-घैषम्य मिलता है। विभिन्नता उस युग के विभिन्न उपविभागों, उन उपविभागों की निजी विशेषताओं एवं पात्रों के विभिन्न व्यक्तिवैयिक कारण है। जहाँ प्रसाद ने चेत्र पलटा है उहाँ इस प्रकार की समाजता का प्रायः प्रभाव पाया जाता है। इसीलिये नाटकेन चेत्र में अतीत और वर्तमान मुख्यमन्युग का भी सुन्दर दिग्दर्शन है। इसी समाजता के कारण प्रसाद के पात्रों की एक ध्रेणी सी बन जाती है।

उनके पात्रों में कतिपय अन्य विशेषताएँ भी दृष्टिगोचर होती हैं। पात्रों के सहसा परिवर्तन बौद्ध-सद्वित्य का प्रभाव है। बौद्ध-साहित्य में एक समय में किसी विशिष्ट कारण एवं व्यक्ति के प्रभाव से एक साथ ही ऐकड़ों व्यक्तियों के विचार, मत, सिद्धांत, धर्म आदि के परिवर्तन के कथन पाये जाते हैं। प्रसाद के पात्रों में भी इसी प्रकार के परिवर्तन हैं। इन पात्रों के चरित्र में एकाएक पन, आकस्मिकता आ गई है जो चरित्र के विकास की अपूर्णता प्रकट करती है, किंतु ऐसे पात्रों में चरित्र की इटि से यह समझना चाहिए कि उनकी मानविक ज्ञातः प्रवृत्तिएँ पहिले से ही उसी ओर झुकी रही हैं और कोई साधन या ऐस मिलने पर अपने निश्चित स्थान पर आ गई हैं। महात्माओं के प्रभाव के कारण सी।

प्रायः उनमें परिवर्तन होना पाया जाना है। इससे भी चरित्र-विकास की पूर्णता सूचित नहीं होती। किन्तु प्रसाद के ये विचार ये कि हमारे गौरवमय अतीत में, द्वापि-मुनियों के उस प्रभाव वाले जमाने में, तप, त्याग, ज्ञान और दर्शन की महत्ता और सर्वे श्रेष्ठों के युग में उन महात्मा पुरुषों का इतना व्यक्तित्व, प्रभाव रहता था कि उनसे विरोधी पक्ष भी सहमत हो जाता, अपने विरोधों को भूल जाता, अपने व्यक्तियों को तुच्छ समझ उनकी सम्मति, उनके आदेशों का पालन करना अपना कर्तव्य समझता था। ऐसे व्यक्तित्व यद्यपि जन-ममूड से विलग रह कर जीवन शाध्ययन-श्रध्यापन पूर्व चिन्तन में ही रह रहते थे। राजनीति से प्रायः दूर रह कर मानव-कल्याण चिन्तन में ही दत्त-चित्तरहते थे। किन्तु उनकी महत्ता और प्रभाव व्यापक रहता और राजा से रंग तक का मान्य हुआ करता था। इन्हीं कारणों से पात्रों के आकृतिक परेंचतनों का दोप जो विश्व की अपूर्णता प्रकट करनेवाला है उनके विचारों का प्रतीक है।।।

“प्रसाद” के महापुरुष (महात्मा) दो प्रकार के हैं। एक तो वे जो दार्शनिक हैं और संसार से विलग रहकर शाध्ययन, मनन और चिन्तन में तबलीन रहते हैं। उनमें महान् व्यक्तित्व होता है ‘प्रसाद’ के महात्मा और सम्राटों तक पर उनका अलौकिक प्रभाव रहता है। उनमें मानव-मस्तिष्क के पहिचानने की ज्ञानता रहती है। वे भविष्य-दृष्टि हैं और विश्व की अंगेभनाओं से विज्ञ भी रहते हैं। महर्षि व्यासदेव, दाराढ्यावन, मिहिरकुल इसी प्रकार के महात्मा हैं। दूसरी ओरु उन परोपकारी महापुरुषों का है जिनके जीवन का ध्येय संसार में रहकर विश्व-कल्याण करने का है। ये महात्मा संसार में विचरण कर, गृहस्थों के संपर्क में आकर जहां पर जिप प्रकार हो सकता है अपने ज्ञान-विज्ञन, सेवा-साधना से, उपदेश देकर समयानुसार

मानव-कल्याण किया करते हैं। महात्मा गौतम, प्रख्यात कीर्ति, दिवाकर मित्र प्रेमानन्द इसी श्रेणी में आते हैं। चरित्र चित्रण की दृष्टि से प्रथम श्रेणी के महात्माओं के विषय में अधिक विवेचन के लिये प्रसाद ने कोई स्थान नहीं रखा है।

महात्मा गौतम को 'प्रसाद' ने उसी युग में देखा है। मानवी कस्तुरा का उपदेश देते हुए भ्रमण करते रहते हैं। उनके परोपकारी स्वभाव उनके प्रभाव एवं कीर्ति के कारण उनका विरोध बढ़ गौतम जाता है। वे निष्पृह हैं और इसी निष्पृहता का संदेश राजा से रंक तक को सुनाते हुए भ्रमण करते रहते हैं। उनके उपदेश की तह में सचाई, आत्मा की शक्ति त्याग की महत्ता रहती है। राजा महाराजाओं पर काफी प्रभाव है, किंतु यह उनके दर्शन और सिद्धान्तों का नहीं है। उनके हारा दिये गये मानवी-कस्तुरा के संदेश का है जिससे व्रस्त मानव को ब्राण और सुख के लिये एक मार्ग मिलता है। त्याग और तितिज्ञा उनके शृंगार हैं। महात्मा गौतम में चारित्र्य-बल और आत्म-दृष्टि भी इतनी महान् है कि जब शैलेन्द्र डाकू (विरुद्धक) श्यामा वेश्या (मार्गधी) का गला धोंटकर भाग जाता है और वह मरणासन्नाचरण में गौतम की कुटी के निकट पढ़ी हुई उन्हें दिखाई देती है तब वे लोक निंदा और विरोध के डर से भी उसकी सेवा करना नहीं छोड़ते। उनका आदर्श यही रहता है कि वह जीवित एवं स्वस्थ हो जाय, उसे सुख और सान्त्वना मिले। उन्हें चाहे कितना भी लोकापवाद वर्यों न मिले? इसी चारित्र्य-दृष्टि के फल स्वरूप उनका प्रभाव और कीर्ति बढ़ती है।

प्रख्यात कीर्ति की गणना इसी प्रकार के उन त्यागशील, मानव दिव के लिये प्रणार्पण करनेवाले महात्माओं में होती है जिन्हें प्रलोभन और

धार्मिक उन्माद भी विचलित नहीं कर सकते । प्रस्त्यातकीति' व्राह्मण और वौद्ध जब अकारण पशुवलि करने और रोकने के लिये हिन्दू मुसलमानों के समान भगदा करने लगते हैं तब वह महात्मा प्राणों का मूल्य लगाकर भी, त्याग का आदर्श उपस्थित कर उस भगदे को दूर करता है । दोनों पक्ष जब धर्म के नाम पर सिर फुर्यायल को प्रस्तुत हो जाते हैं तब वौद्ध भिन्नुओं में से वह किसी एक को आङ्गान करता है जो पशु के स्थान पर अपनी वंजि देने का साहस कर सके । किन्तु वौद्ध भिन्नुओं में से जब कोई भी प्राण देने को प्रस्तुत नहीं होना तब वह स्वयं प्रस्तुत हो जाता है । इस महान त्याग का प्रभाव भी अजोकिह ही पड़ता है । त्याग का यह अनुपम अदर्श आज भी भारत के धर्म चारियों की अँखें खोलने के लिये पर्याप्त है । उसके त्याग की इच्छा एक अन्य स्थल पर देखने को मिलती है जो कि अराष्ट्रीय धर्म भक्तों के लिये भारत सदृश देश के लिये अनिवार्य है । उसे वौद्ध-धर्म के प्रचार की सहायता का, धन का जोभ दिया जाता है ताकि वह वौद्ध जनना को विवेशी आकरण हूण सरदार की सहायता के लिये प्रस्तुत करे । आदेश देवे । किन्तु वह धन और धर्म के प्रचार के प्रलोभन पर विजय प्राप्त करता है । भारत के उन्मादी धर्म प्रचारकों के समक्ष भारत के सतत कल्याण और स्वतंत्रता की रचा के लिये एक उच्च आदर्श उपस्थित करता है ।

प्रेमानंद हस्ती श्रेणी के उन सच्चे साधु महात्माओं में से हैं जो एकाकी विचरण कर प्रकृति का उपभोग करते, मानव का जहाँ जैसे भी हो कल्याण करते और व्यक्तित्व को गठित करते रहते हैं । वंह प्रेमानंद सत्यशील को उसके हुएकर्मों पर धिक्कारता है । चन्द्रज्ञेखा की रचा करता है, नरदेव के राजकुमार की रचा कर अपने मनुष्याव का, साधुता का परिचय देता है ।

इनके विरुद्ध उनका धरित्र आता है जो इनके प्रतिद्वंद्वी असद् प्रवृत्ति के पोषक महात्मा अथवा भिन्न हैं । विशेषकर ऐसे बौद्ध भिन्न हैं जो बौद्ध-धर्म के विकृत होने पर स्वयं विकृत हो गये असद् प्रवृत्ति- अथवा अपनी विकृतियों से बौद्ध-धर्म को कलंकित पोषक महात्मा कर गये । इनमें महानता, त्याग की तो कमी थी ही किंतु विद्वेष, धार्मिक वितंडावाद और निजी स्वार्थ था; मनोविकार थे और आ गया था महंताना ढंग जो प्रायः आज के महंतों में भी पाया जाता है । ऐसे प्रतिद्वंद्वियों के समक्ष मानवता सच्ची धार्मिकता का कोई मूल्य नहीं रहता । उनके धर्म और सिद्धांत उनके स्वार्थों एवं विद्वेषों में गमित रहते हैं । उनकी ये क्रियाएँ यदि जन-समूह तक ही परिमित रहतीं तो कोई चिंता की वात न होती किंतु जब वे राज्य में, राजनीति में हस्ताच्छेप करती हैं तब वे विचारणीय हो पड़ती हैं ।

काश्यप ऐसे ही स्वार्थी ब्राह्मण की श्रेणी में आता है जिसकी समस्त चेष्टाएँ निजी स्वार्थ तक ही सीमित रहती हैं । उसके समक्ष उसकी

अहमन्यता तो नाचा ही करती थी किंतु वह स्वार्थ-काश्यप साधना अच्छे-बुरे सब ही प्रकारों से किया करता था ।

ब्राह्मण-शृणि महात्माओं ने चिंतन, त्याग, परार्थ, राष्ट्र-हित-कामना के द्वारा जो गौरव प्राप्त किया था उनकी सन्तान होने के कारण उन उच्च गुणों से हीन होने पर भी उनका दुरुपयोग करता है । अकारण केवल ईर्ष्या, अहमन्यता, धनज्ञ लुपता एवं अविचार के कारण जनसेक्षय की तक्षशिला-विजय का विरोध करता है । दक्षिणा-प्राप्ति के लिये दौड़ा चला आता है किंतु उत्तंक को महारानी घण्टमा द्वारा दिये गये मणिकुंडलों के दान को पैशाचिक अर्थलोलुपतावश सहन नहीं करता । उसकी नीच मनोवृत्ति और कल्प कामना तब देखने को

मिलती है जब वह इन्हीं मणिकुण्डलों के लिये नागराज तच्चक से मिल पढ़्यंत्र रचता है। वह कुटिल मनोवृत्ति अन्तिम सीमा पर तब पहुँच जाती है जब वह पढ़्यंत्र द्वारा महारानी वपुष्मा का हरण करवाता है, तच्चक से असंस्कृत अनार्य अधिष्ठिति को भी लिसके लिये आश्चर्य हुआ और जो उसके इस कार्य का अर्थ नहीं समझ पाया। काश्यप सद्श राष्ट्रों, राज्यों आदि में अकारण विद्रोह पैदा करनेवाले व्राह्मण पाये जाते रहे हैं। जब-जब उनकी महत्ता का मान और सत्ता में हाथ रहा है तब-तब ऐसे व्यक्तियों ने विद्रोप और ईर्ष्या के वश ही बड़े-बड़े अकांड तांडव उपस्थित किये हैं। अपने स्वार्थ को भी तिलाक्षुलि देकर उन्होंने ऐसा किया है। यहाँ भारत-काल से बुद्ध के पहिले के प्रामैतिहासिक काल में ऐसे व्राह्मणों की उज्ज्ञावना करना असंभव न था। यही कृतिस्त मनोवृत्ति वौद्ध-साधुओं में भी वौद्ध-धर्म के चरम सीमा पर चढ़ कर हास होने के समय दिखाई दी थी। ॥

बौद्ध कार्यालिक प्रपञ्च बुद्धि विकट अनीति और आतंक परायण है जिसने अनंत देवी पर अपना इतना आतंक नमा लिया था कि वह इसे एक अद्भुत शक्तिशाली समझने लगी थी और जिसका प्रपञ्चबुद्धि प्रभाव गुप्त महावलाधिकृत भट्टाक पर भी इतना गिरा कि केवल प्रथम दर्शन में ही वह विस्मयविसुग्ध हो गया और बाद में अपनी सदूपवृत्तियों को किंचित भी सचेष न कर पाया। असदूपवृत्तियों को बलवती हो जाने दिया।

सत्यशील और शांतिदेव विषयी, लंपटी, मनोविकारग्रस्त वौद्ध-भिजुओं के उदाहरण हैं। वास्तव में प्रसाद ने वौद्ध-युग को बड़ी ही सूखमता से देखा है। उन्होंने उसकी 'कहणा' और मनोविकारग्रस्त पात्र 'निराशावाद', ज्ञानभंगुरता ही को नहीं देखा है, उसकी विकृति और दोप भी उनके पात्रों में उत्तर

आये हैं। प्रसाद से सूचमद्दृष्टा ने उस काल को, उस काल के जीवन को चथार्थ रूप में प्रकट किया है जिसमें 'आन' की उज्ज्ञावना भी निश्चिकोच की जा सकती है।

आद्यकालीन विषयी बौद्ध महंत के समान सत्यशील खाने-पीने, मौजून उड़ाने में रत है। ब्रह्मचारी रहते हुए भी रखेलियें रखता है। उसे अनाप-शनाप आमदनी है और राजकर से मुक्ति है। धर्म और तथागत की दुहाई देना, आत्मा को धोखा देकर कामदासना की पूर्ति के साधन जुटाते रहना उसके कार्य हैं। सत्यशील का पाखंड, ऐसे महंतों की स्थिति अज्ञान अपराध है। शान्ति शिङ्गु के प्रति उसके अनेक कुटिल कुत्तों के होते हुए भी हमारी सहानुभूति खिच ही जाती है। सत्यशील में कायरता, सशक्त से दबने और अशक्त पर अत्याचार करने की भावना है। उसके चरित्र का थोड़ा ही शंश नाटक में चित्रित है। शांतिभिङ्गु का स्वरापन उसकी साहसिकता, उसकी धौद्विक कुशाग्रता हमें उसके दोषों पर अधिक विचार न करने के लिये बाध्य कर देती है। वह भिङ्गु था। भिङ्गु होते हुए भी उसकी सुरमा पर आसक्त थी। सुरमा को प्रेम करते हुए भी राज्यश्री के मोहक रूप-सौंदर्य के आकर्षण और उसे अपना बनाने की लालसा को वह निकाल नहीं सकता था। वह युवक था। वह लाचार था। वह स्वयं भिङ्गु नहीं बना था। उसके पिता ने उसके अज्ञान में, बाल्यावस्था में, उसे बौद्ध-मन्दिर में सौंप दिया था। धार्मिक कठोरता, संयतता उसके हृदय और मनोराज्य की सीमा के परे थी। वह जानता था कि राज्यश्री का मिलना उसके लिये दुष्कर था, असंभव था, किंतु उसका स्वयं पर अधिकार नहीं था। कहाँ वह एक साधारण भिङ्गु और कहाँ राज्यश्री, एक राजरानी। ऐसी अवस्था में एक भयंकर प्रतिक्रिया भी—विशेष कर तरुणाई में—हुआ करती है। 'प्रसाद' की सूचम अवलोकन शक्ति और अनुभव ने इसे भी शान्ति भिङ्गु के रूप में अंकित

किया है। वह राज्यश्री को पा नहीं सकता है। सुरमा उसे छोड़ कर चली जाती है। निराश, तरुण शान्निभिन्न साहसिक छ हो जाता है। साहसिक ही नहीं, विकट साहसिक। दो-दो सेनाओं के बीच में से 'राज्यश्री' को छड़ा ले जाना अस साहस का काम नहीं था, यद्यपि युद्ध-जनित अव्यवस्था अवश्य थी। नरेन्द्रगुप्त की भेरणा पर राज्यवर्द्धन का वध करना उसकी अप्रतिम दुसराहसिकता का परिचय है। अन्त में भेष बदल कर जब इर्षे के दान के समय कान्यवृद्धज पहुँचता है तब उसकी बुद्धि भी तपरता और कुटिलता के दर्शन भी हो जाते हैं। उसमें सहमा परिवर्तन हो जाना और कापाथ धारण कर जैना वौद्ध-ग्रंथों के अनुरूप तो हुआ है किंतु ऐसे स्थलों पर उन ब्रन्थों में धर्म प्रचार की जो भावना पाई जाती है, उसी का दर्शन है, न कि मानव-स्वभाव-ज्ञान का।

महात्मा गौतम के प्रति देवदत्त का विरोध परकीर्ति-असहिष्णुता की मानव-स्वभाव में पाई जानेवाली बलवती प्रवृत्तिभूष ही हुआ है। उन पर उनता में विभिन्न दोपारोपण करना और राज्य में उनके विस्तृ स्थान अवृणु करना उक्त सहज प्रवृत्ति का ही पोपण करता है।

इर्षे, विवसार राज्यश्री और स्कन्दगुप्त निवृत्तिपरायण पात्र हैं। पश्चावती भी इसी श्रेणी में आती है किंतु उसका चित्रण गौण और अत्यल्प हुआ है। अनातश्च उनके संपर्क में निवृत्ति-परायण थोड़ा सामानवी कहणा के प्रशंसन के लिए तो वह पात्र शोवर्शयक है किंतु इसके पश्चात् उसका चित्रण नाटक की मूल कथा वस्तु से कुछ संबंध नहीं रखता। वह तो केवल अपनी मा के अनुरूप पिता के समान भगवान् बुद्ध के उपदेशों

के प्रसांद का डाकू के अर्थे में साहसिक शब्द का प्रयोग करना सुन्दर हुआ है; यथा स्थान शब्दों के उत्ताप की जमता प्रकट करता है।

से से प्रभावित हुई है और उसकी कहणा हृदयगत है जो बाद में उदयन के व्यवहार द्वारा और वह गई है। इस करुणा का परिचय केवल एक स्थान पर पहिले अर्कों में मिलता है जहाँ वह कूर प्रवृत्ति कुमार अनातश्च द्वारा का सृगशावक का सिंह से खेज देखने के लिए वर्जित कर देती है। इसके पश्चात् वह क्या मार्ग और क्या कौशास्त्री दोनों जगह गृह-क्षेत्र की अग्नि में झुलसती हुई दिखायी गई है।

र्हषि और राज्यश्री की निवृत्ति-प्रायणता परिस्थिति जन्म ही है। स्वभावतः मूल रूप में यह रही हो किंतु परिस्थितियों के भिन्न होने पर वह बदल भी जाती। राज्यश्री अवला है। उसमें अबलोचित कमलो-रियें हैं। उसका शत्रु उसका रूप सौंदर्य भी है। इसी ने शान्ति भिन्नु को आकर्षित कर उसके लिए विकट परिस्थितिएँ पैदा करदीं। इसी के कारण देवगुप्त भी उसकी ओर सिंच गया। राज्यश्री उस समय की ओषुनम सौंदर्यशाली ललना के रूप में इसी सौंदर्य की आग के कारण स्वयं भस्म हो गई, उसी प्रकार राज्यश्री की भी इसी ने विडंवना करवायी। मृत्यु से अधिक वैधय दुःख जीवन भर सहन करवाया। राज्यश्री का दग्ग, रितिज्ञा, चमा, कहणा न केवल उसी उचित हुई है किंतु वह अलौकिक और आदर्श सी हो गई है। शांतिप्रिय, चुरमा, नरेन्द्रगुप्त के प्रति उसी ही चमा, दीक्षनदान का प्रसंग उसके बौद्ध धर्मोचित त्याग और आदर्श के अनुकूल है। राज्यश्री नाटिका की वह मुख्य पात्रा है ही और उसी के अनुकूल चित्रांकण सुन्दर और योग्य हुआ है। केवल उसकी प्रवृत्ति को परिस्थिति जन्म में इसीलिए मानता हूँ कि उसके पति अहवर्मा के निधन के कारण ही उसे एक ज्वरदस्त डेस पहुँची, नहीं तो बौद्ध मतानुयायी होने पर भी वह राज्य या युद्धादिक कार्यों से पूर्णतया विरक्त नहीं रही है। परति निधन के पश्चात् एक रूपवती हिंदू विधवा

के लीवन की झाँकी राज्यश्री में प्राप्त होती है। परिस्थितियों, राज्यवर्द्धन के निधन एवं राज्य-संघर्षों ने उसमें इतनी निवृत्ति, उदासीनता, वैराग्य वृत्ति ला दी थी कि सम्राज्ञी होने पर भी उसके लीवन से मानवी करुणा रंचमात्र भी दूर नहीं हुई। साम्राज्य तक को उसने इसी की आराधना में लगा दिया। उसकी निवृत्ति-परायणता, व्याग, तितिज्ञा, वैराग्य, मानव-सेवा-मुखी हो गये।

ग्रहवर्षा एवं राज्यवर्द्धन के निधन तथा उसकी एक मात्र भगिनी राज्यश्री के वैधव्य ने हर्ष के स्वभाव और ग्रवृत्तियों पर बड़ा प्रभाव डाला। राज्यश्री के प्रेम ने ही प्रतिहिसा, युद्ध-ग्रवृत्ति का मुख दूसरी ओर फेर दिया। शत्रुता ज्ञान में बदल गई। जो युद्ध भावना पहिले विजय और महत्वाकांक्षा की सूचक थी वह भारत को एक संस्कृति प्रदान करने, एक राष्ट्र में, एक सूत्र में पिरोने, उसे सुशासन और सुषुद्ध शासन प्रदान करने की ओर उन्मुख हो गई। राज्यश्री के आदेश पर उसने शांतिदेव, सुरमा और नरेन्द्रगुप्त सद्श और शत्रुओं को प्राण दान दे दिया। पुलकेशिन से विना युद्धादि के समानता की संधि कर ली। ये सब घटनाएँ उसमें परिस्थिति जन्य विराग की ही सूचक हैं, जिन्होंने उसे बाद में सर्वेष्व दान करने की ओर प्रवृत्त करने की ओर प्रेरित किया, साम्राज्य संभालना उसके लिए आवश्यक होगया था। इसलिए उसने उसका अपने आदर्श के अनुसार सर्वोत्तम उपयोग किया उसके श्रेष्ठ आदर्श, उच्च कार्यों में समय के व्यवधान से दोष आगये थे, जैसा कि साधु-वेपधारी शांतिभिष्णु और सुरमा सद्श हत्यारे और दाकुओं की दान-प्राप्ति से प्रकट होता है।

कोशल-सेनापति घंघुल-पत्नी महिला में नव-विवाहिता नारियों का वैधव्य एवं उनकी गंभीर मनोव्यवधारणों, वैराग्य, ज्ञान, वौद्धधर्म की ओर सुकाच, जो संसार की कल्पभंगुरता और वैराग्य जनित होता है,

की प्रवृत्तियों का चित्रण हुआ है। महिका अपने पति के हंत की धायलावस्था में सेवा करती और उसके लिए प्रसेनजित^१ ल अॱस पर उसके त्याग और ज्ञान के कारण प्रभाव पड़ा था, आग्रह करती है कि वह उसे ज्ञान करदे और पुनः वंचित राज्याधिकारों को लौटा दे। उसे पुनः पुत्र के रूप में विना नीच-ऊँच भाव के, मानव सिद्धांत के आधार पर ग्रहण करे। उसके हृदय की विशालता, उसका धैर्य, आत्मा की शक्ति तब देखने को मिलती है जब उसे पति के निधन का समाचार मिलता है और उसी समय अविकार भाव से वह महात्मा गौतम का स्वागत-सरकार करती है।

महाराजा विंयसार और स्कंदगुप्त की निवृत्ति-परायणता, वैराग्य-वृत्ति और सहन उदासीनता स्वभावजन्य हैं। वे उनकी रग-रग में समाई हुई हैं। सम्राट होते हुए भी ज्ञान भर को विंयसार वे उनसे दूर नहीं होतीं। उन्होंने साम्राज्यों, शुद्धों का संचालन किया, अंतर्द्वारों एवं संघर्षों का सामना किया, किन्तु उन्हें वे अपने से विलग नहीं कर सके।

साम्राज्य को त्यागने के पहिले ही महाराज विंयसार सोचते थे "आह, जीवन की ज्ञानभंगुरता देखकर भी मानव कितनी गहरी नीच देना चाहता है। आकाश के नीले पत्र पर उज्ज्वल अचरों से लिखे हुए अदृष्ट के लेख जब धीरे-धीरे लुप्त होने लगते हैं, तभी तो मनुष्य प्रभाव समझने लगता है, और जीवन-संग्राम में प्रवृत्त होकर अनेक अकांड-तांडव करता है। फिर भी प्रकृति उसे अंधकार की गुफा में के जाकर उसका शांतिमय, रहस्यपूर्ण भाग्य का चिट्ठा समझाने का प्रयत्न करती है किन्तु वह कब मानता है? मनुष्य व्यर्थ महत्व की आकांक्षा में मरता है; अपनी नीची किन्तु सुदृढ परिस्थिति में उसे संतोष नहीं होता; नीचे से ऊँचे चढ़ना ही चाहता है चाहे फिर गिरे भी तो क्या?"

इसी जन्मजात प्रवृत्ति पर महारामा गौतम का प्रमाण पड़ा था । यही अन्त तक बनी रही । किंतु वे महारामा न थे, परमहंस न थे । वे गृहस्थ थे, सम्राट थे, राज्य के भोक्ता थे । इसीलिये उनमें 'शीतल वाणी', 'मधुर व्यवहार' अवश्य छुलना सदृश महावामिलापिणी नारी के सम्बन्ध तक नहीं रह सका । उनका "वाक् संयम" जो 'विश्व मैत्री की पहिली सीढ़ी है' तक अवश्य नहीं पहुँच पाया था । वह "क्षंसार भर के उपद्रवों के मूल व्यंग" तक भी पहुँच गया था । व्यंग-भी विवसार में श्रंत तक रहा । श्रंत में अजात का जब पूर्व क्रूर स्वभाव धुल गया था, उसे 'मानवी करुणा' की दृष्टि से नव-जीवन प्राप्त हो गया था तब भी विवसार जब उन्हें अजातशत्रु के आगमन की सूचना मिलता है पूछते हैं, "कुणीक कौन ! मेरा पुत्र या मगध का सम्राट् अजात शत्रु" और जब स्वयं अजात शत्रु कहता है, "पिता, आपका यह पुत्र कुणीक सेवा में प्रस्तुत है" और चरणस्पर्श करता है तब भी विवसार की व्यंग-वृत्ति उबल ही पड़ती है । वे अपने को यह कहने से रोक न सके कि "नहीं, नहीं, मगधराज अजातशत्रु को किंहासन की भर्यादा नहीं भंग करनी चाहिए ।"

इस प्रसंग के अतिरिक्त सर्वत्र उनकी उसी मूल प्रवृत्ति का ही चित्रण और पोपण हुआ है । वे निष्पुहता वश साम्राज्य को अपनी जीवितावस्था में ही छोड़ देते हैं और वाणप्रस्थी हो जाते हैं । ज्ञुधता के कारण उपस्थित होने पर भी उनका चरित्र बचता ही रहा । वाणप्रस्थावस्था में भी वे स्वतंत्र नहीं रह पाते हैं जैसा कि राजनीतिक उथल-पुथलों के समय प्रायः आवश्यक रहता है । उन्हें सो आरिमक पीड़ा इसीलिये होती है कि वे भिजुओं को, याचकों को ऐसी अवस्था में दान, नहीं दे सकते । उनके चरित्र की महानता वहाँ है जहाँ राज्य खाग कर भी उन्हें दुःख नहीं होता । वे विचलित नहीं होते जब कि उन्हें यह

सुचित किया जाता है कि देवदत्त गौतम के कारण उनके प्राण लेने की चिंता में है।

उनके अवसान के पूर्व अंत में भी इसी प्रवृत्ति का पोषण होता है जो दर्शन, काव्य और प्रसाद के मानवी चिंतन का उत्कृष्ट नमूना है। चिवसार सोचते हैं, “मनुष्य क्या इस पागल विश्व के शासन से अलग होकर कभी निश्चेष्टता ग्रहण कर सकता है? हाय रे मानव! क्यों इतनी दुरभिलापापैं विजली की तरह तू अपने हृदय में आलोकित करता है? क्या निर्मल-ज्योति-तारागण की मधुर किरणों के सदृश सद्वृत्तियों का विकास तुम्हे नहीं रुचता? भयानक भावुकता और उद्वेगजनक अंतःकरण लेकर क्यों तू ध्यय हो रहा है? जीवन की शान्तिमयी परिस्थिति को छोड़ कर ध्यर्थ के अभिमान में तू कब तक पढ़ा रहेगा? यदि मैं सम्राट न होकर किसी विनम्र लता के कोमल किसलयों के सुरमुद में एक अधखिला फूल होता और संसार की दृष्टि मुझ पर न पड़ती—पवन किसी लहर को सुरभित करके धीरे से उस थाले में चू पड़ता—तो इतना भीपण चीकार इस विश्व में न मचता। उस अस्तित्व को अनस्तित्व के साथ मिला कर कितना सुखी होता!”

स्कंदगुप्त भी निवृत्ति-परायण, बौद्ध-निराशावाद का आश्रयी वीर राजकुमार है। उसमें ‘चंद्रगुप्त’ के समान राष्ट्रीय, भारत हित-चिंतना की

भावना भी है जिसमें विश्वहित, मानव-कल्याण सज्जिहित

स्कंदगुप्त है और जो कि भारतीय संस्कृति की सर्व श्रेष्ठ देन है।

स्कंदगुप्त की वीरता, आशा-निराशा, कल्याण-कामना महामा गांधी के समान ही है। असहयोग आंदोलन के पश्चात् अवतार एवं महामानी संबंधी जो विचार धाराएँ उद्गत हुईं उनका प्रभाव प्रसाद पर भी पड़ा है। इसी प्रकार के अवतार का सिद्धांत स्कंदगुप्त के लिये कमला द्वारा भी कहलाया गया है। वास्तव में स्कंदगुप्त के

चरित्र के मूल में आदि से अन्त तक निवृत्ति परायणता, वौद्ध निराशा और स्याग एवं भारत-हिन कल्याण की भावना भरी हुई है। वौद्ध निराशा वाद ऐसा नहीं है जिसमें मनुष्य विलक्षण निष्क्रिय हो जाता है। निराशा को, ज्ञान भंगुरता को वह पुक और अनिम सिद्धांत के रूप में समझता है। संसार के मूल में इसे मानता है किंतु इसके होते हुए सांसारिक कार्यों में गृहस्थों के भाग लेने को वह अनुचित नहीं समझता। इसी प्रकार की भावना स्कंदगुप्त के चरित्र में भी चित्रित की गई है। वह राजकुमार है, वीर है, लेजस्त्री और होनहार है। उसमें महानता है। उसने युद्ध-विग्रहों और राजनीति में भाग लिया है, उसने प्रेम किया है, प्रेम ने उसे आकर्षित किया है। तरुणाई ने प्रेम की उमर्गें उसमें चैदा की हैं। किंतु इन सबसे भीचे की तह में वही निराशा है। किंतु वह निराशा नहीं जो उत्साह का अभाव सूचित करती है हैं सते हुए महात्माजी के दिमाग एवं आँखों में भी एक गंभीर विपाद, मानव कल्याण की सर्वाधिक हितचितना समाई रहती है। युग-युग के शंगार इस महान् ध्यक्ति में इम कहै दोषों की उद्भावना कर लेते हैं। भारत के हित की दृष्टि से वास्तवः वे हमें उचित भी प्रतीत होते हैं, क्योंकि इम देखते हैं कि महात्माजी बड़ी साधानी से, सतर्कता से कूँक-कूँक कर एक एक पैर उठाते हैं। वे यह भी नहीं चाहते कि शत्रु की उनसे हानि हो, किंतु भारत का हित भी होता जावे। यह हो तो नहीं पाता। शायद हो भी नहीं सकता। किंतु वे सोचते और करते ऐसा ही हैं। इसीलिये उत्तावले और उन्हें जपर से देखनेवालों को उनके कार्य सदोष दिखाई देते हैं; किंतु जिसने समूचे मानव को एक समझा है। उसके समज क्या भारतवासी और क्या यूरोपियन दोनों एक हैं। क्या रंक और क्या राजा ? कोई भेद वे मानव की दृष्टि से उनमें नहीं करते। उनके अन्दर

तो संतुलन, समन्वय एवं भारतीय साम्यवाद की भावना रहती है जिसमें सब छोटे-बड़े ग्रह अपने-अपने स्थान पर अपना कर्तव्य पालन करते रहते हैं। अस्वाभाविक समानता के नहीं, वे तो स्वाभाविक साम्य के पक्षपाती हैं, जिस पर प्राचीन भारत निर्भर था। स्कंदगुप्त में हम यही पाते हैं।

जो स्कंदगुप्तमार्भ में ही यह कहता है कि "अधिकार सुख कितना मादक और सारहीन है? अपने को नियामक और कर्त्ता समझने की बलवती सूखा उससे बेगार कराती है।" "जो कुछ हो हम तो साम्राज्य के पुक सैनिक हैं।" अन्त में भी वह इसी प्रेरणा को प्रश्रय देता है। "देवसेना! पुकात में, किसी कानन के कोने में, तुम्हें देखता हुआ जीवन व्यतीत करूँगा। साम्राज्य की इच्छा नहीं एक बार कह दो।"

उक्त मूल भाव के होते हुए भी वह निप्पिय नहीं रहा प्रत्युत उत्साह पूर्वक, धीरता के साथ, "अकलो चलो चलु रे—" की उक्ति को चरितार्थ करता हुआ आगे ही बढ़ता रहा है। उसे अधिकार अध्यवा साम्राज्य नहीं चाहिये। साम्राज्य प्राप्त कर उसे उसने पुरगुप्त के लिये निष्कंटक छोड़ दिया, इससे बड़ा त्याग और कौन कर सकता है?

बृद्ध पर्णदत्त के प्रति उसको श्रद्धा और भाव उसमें विनयशीलता का परिचय कराते हैं। बृद्ध मगध महानायक पर्णदत्त की लांछना एवं प्रेरणा पर उसमें सक्रियता जो अब तक सोई हुई थी जाग्रत हो जाती है। वह उत्साह से परिपूर्ण हो जाता है। मालव के सहायता माँगने पर अकेला ही तैयार हो जाता है। वह देश-रक्षा की, हूरणों के आकमणों से रक्षा करने की दृष्टि प्रतिज्ञा कर लेता है और उसके अनुसार कार्य करने को अग्रसर हो जाता है। सम्राट कुमारगुप्त के निधन पर उसे प्रलोभन उसके सुचितकों की ओर से दिया जाता है कि वह मगध-राज्याधिकार प्राप्त करे। वह प्रलोभन, इसलिये भी कि पुरगुप्त के निर्वल हाथों से

शासन निकल कर उसके सुष्टु दाथों में आ जाये ताकि मगध और समस्त उत्तरापथ का हृणों से ब्राण हो । किंतु इस मूल्य पर भी उसकी महानता, उसका व्याग राज्य-सूत्र पुरगुप्त के हाय में ही रहने देना अनुचित नहीं समझती । वह केवल यह आकांचा रखता है कि मगध हृणों से मिल कर उसका विरोध न करे । उसके विरुद्ध पद्यंत्र न करे । भटार्क और अनंतदेवी को भी—उसकी माता देवकी के वध-इच्छुकों को भी—ज्ञमा प्रदान कर वह अपनी अपूर्व ज्ञमाशीक्षा और महानता का परिचय देता है । हृण-निष्कासन की उपने जो प्रतिज्ञा की उसे पूर्ण कर के दिखाई । कर्तव्यप्रेमी वह इतना या कि शक्ति और सहायता, अधिकार के होते हुए भी वह एक सैनिक बन कर लड़ना ही अधिक पसंद करता है । इस सैनिकत्व की सुन्दर भावना का निर्दर्शन उस समय भी होता है जब अनिवार्य आवश्यकतावश और कदाचित मगध के अन्तर्विद्रोह को शमन करने के लिये या वह बलवान न हो उठे इसलिये भी स्कंदगुप्त को मालव के सिंहासन पर वंधु वर्मा थादि अधिष्ठित करते हैं तब वह उसे केवल अनिच्छापूर्वक ही ग्रहण करता है । वह कहता है, “तात ! विपक्षियों के बादल घर रहे हैं, अन्तर्विद्रोह की ज्वाला प्रज्ज्वलित है; इस समय मैं केवल एक सैनिक बन सकूँगा, सम्राट नहीं”, उसमें आधित रहा और उच्च कोटि की ज्ञमाशीलता का भाव भी ओतप्रोत है । मगध सम्राट ने मांडलिक मालव की रक्षा का भार सिया था । स्वंदगुप्त ने अपने इस कर्तव्य का प्राणपण से पालन किया । उसने न केवल भटार्क और अनंत देवों को पहिले एक बार छोड़ दिया था । बाद में भी वड-भटार्क को कमला के कारण ज्ञमा कर देता है । रामा के कारण शर्वनारा को न केवल ज्ञमा करता है किंतु अन्तर्वेद का विषय-पति बना देता है । ग्रेसाद ने उसके युद्ध-संचालन और सक्रिय वीरता का भी परिचय कुभा के युद्ध-चैत्र, गांधार की घाड़ी में युद्ध को चित्रित कर दिया है । इस

समय उसमें वही गाँधीजी की ही जीति काम करती है। भटाक पर उसे विश्वास नहीं है किंतु अन्त तक वह उसे मौका देता है कि वह देश, आर्य-राष्ट्र के सम्मान का एक भारतीय के नाते ख्याल करेगा। इससे चाह्यतः उसमें दोष दिखाई देता है और दृच्छा होती है कि उसने यदि यह ब्रुटि न की होती तो उसके प्रयत्न असफल न होते किंतु उस समय तो वह भटाक पर प्रत्यक्षतः अविश्वास भी प्रकट नहीं कर सकता था। परिस्थिति जटिल और भयावह हो गई थी। उसके एक योग्य शासक होने का परिचय भी हमें मिलता है। कभी-कभी उसमें लो यह दोष दिखाई देता है कि वह समय समय पर निराशा और उदासीनता के भावों को प्रश्रय दे डासता है। यह निराशावाद के कारण नहीं, उसकी मूल अन्तः-प्रवृत्तियों के कारण स्वभावतः हुआ है। कलाकार भविष्यदृष्टि और भविष्य का पथ-प्रदर्शक होता है इसका प्रसाद में पूर्ण परिचय मिलता है। जो घटनाएँ आज घटित हो रही हैं उसे प्रसाद पहिले ही खिल खुके हैं।

यह तो उसके चरित्र का घह भाग है जहाँ उसके जीवन में संघर्ष ही संघर्ष है किंतु उसमें तरुण स्कंदगुप्त भी व्याप्त था। यह उसके विजया और देवसेना के संबंधों से ज्ञात होता है। यहीं उसके प्रेम की उल्लङ्घना, पूर्णता, उज्ज्वलता, महानता का भी परिचय मिलता है।

विजया के प्रति स्कंदगुप्त का जो आकर्षण हुआ वह शारीरिक और तरुणाई जनित ही कहा जायगा। उसके रूप-सौंदर्य, योवन का आकर्षण था किंतु इस आकर्षण का प्रसादली ने एक उचित आभास तो दिया है जिससे वह ज्ञात होता है कि स्कंदगुप्त के थन्दर प्रेमांकुर पहिजे से ही पैदा हो गया था, किंतु विशेष दृढ़ता उसमें प्राप्त हुई हो पेसा ज्ञात नहीं होता। तरुणाई में, अविवाहित जीवन में, इनके पहिले भाग में प्रायः मन खिचा खिचा फिरता है। वह एक स्थान पर स्थिर नहीं हो

पाता । इस समय केवल तस्याई, अल्पवय ही प्रेमांकुर पैदा करने के लिए पर्याप्त होती है । विजया के प्रति स्कन्द का इसी प्रकार का प्रेम प्रकट होता है । इसका एक जीण आभास उस समय मिलता है जब देवसेना से ईर्पणवश उसको वह बलि देना चाहती थी । प्रपञ्च बुद्धि के पास इमशान पर जे जाती है । वहाँ भटाक आ उपस्थित हुआ था किंतु मातृगुस द्वारा इसका रहस्योदयाटन हो जाता है और सब स्कन्द के समक्ष पेश किये जाते हैं । तब धांतरिक ईर्पण की प्रतिक्रिया द्वारा विजया भटाक को ही अपना पति बतन लेने और जीवन मरण में साथ रहने की चात कहती है । इसके पश्चात् स्कन्द के हृदय में जो छोटे से छोटा प्रेमांकुर उत्पन्न हुआ था वह आगे लीवित रहा हो इसका कोई भी कथन नहीं मिलता क्योंकि दूसरी बार जब स्कन्द की वित्त्या से भेट होती है तब वह निराश होकर भगध से लौट आई थी और इधर गांधारी की घाटी में स्कन्दगुप्त के प्रयत्न असफल हो चुके थे । वह उसे धन सम्पत्ति का लालच देकर अपने से विवाह करने के लिए प्रेरित करना चाहती है किंतु इड निश्चयी, देवसेना के त्याग और प्रेम का कायल स्कन्द विचलित नहीं होता । विजया की आकंक्षा की अवहेलना कर वह एकाकी रहना, दुःख उठाना पसंद करता है । यह उसके इड-चार्ट्रिड का महत्त्व प्रकट करता है ।

देवसेना के प्रति प्रेम एवं कर्तव्य का यदा ही भव्य रूप इमारे समक्ष उपस्थित होता है । यह तो उसके चरित्र से स्पष्ट ज्ञात नहीं होता कि पहिले देवसेना पर कोई विशेष प्रेम रहा हो । हाँ देवसेना में वह बहुत पहिले से उदय होगया था जो सात्त्विक त्याग समर्पित था और जिसने अंत में एक उच्चादर्श को स्थापित किया । प्रेम की भव्यता और उच्चता को प्रकट किया । देवसेना के प्रति स्कन्द में प्रेमांकुर के साथ ही कर्तव्य-प्रेरणा अधिक ज्ञात होती है । यह प्रेरणा भी बंधुवर्मा के वीरगति

प्राप्त होने के पश्चात् और भी बलवती और तीव्र होगयी थी। इसीलिए सहज उदासीन वृत्तिवाले स्कंदगुप्त ने अपने प्रयत्नों में असफल होने पर भी एकाकी जीवन को सार्यक फरने के लिये, देवसेना की निम्न, दबी, निर्धन स्थिति को देख कर बंधुवर्मा, उसके प्रबल सहायक, दाहिने हाथ; उसके प्रति उच्चतम त्याग करनेवाले और अब वीरगति प्राप्त बंधुवर्मा के प्रति कर्तव्य के लिए देवसेना से धार-वार एक सूत्र में बैंध लाने के लिए आग्रह किया। इसके लिए उसने बंधुवर्मा की दृच्छा का भी आश्रय लिया किंतु वह देवसेना को फिर विचलित नहीं कर पाया। रुद्र में संभवतः प्रेम के स्थान पर कर्तव्य की भवना रही है। नारी देवसेना ने इसीलिए उसके लिए आग्रह को उच्चतम त्यागपूर्वक छोड़ दिया। स्कंदगुप्त की इस मनोरिति का पता देवसेना के निम्न कथन से स्पष्ट सिद्ध होता है। यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि देवसेना स्कंद को हृदय के अंतररतम भाग से चाहती थी। वह नारी थी। प्रेम के लिए जँच से जँचा त्याग कर सकती थी। आजीवन रुद्र को चाहना और कुमारी रहना यह एक उच्चतम उसका त्याग था। वह उपर्युक्त रुद्र से कह देती है "सो न होगा सम्राट् ! मैं दासी हूँ। मालव ने जो देश के लिए उत्सर्ग किया है, उसका प्रतिदान लेकर मृत आत्मा का अपमान न करूँगा ?" इससे यह भी ज्ञात होता है कि प्रसाद इस मनोवैज्ञानिक तथ्य से भी परिचित थे कि नारी कैसे आत्मा के दल पर दूर से ही मनुष्य के मस्तिष्क को पढ़ लिया बरती है और मनुष्य नारी के संबन्ध में कैसी भ्रांत धारणा भी प्रायः बना लिया करता है। इस श्रसंग के पश्चात् पुनः जैसे अपनी पूर्व स्थिति में लौट आया हो। अब वह विजयी होगया था। बुरगुप्त अपने लघु ब्राता के लिए निष्कंदक साम्राज्य विजय करके छोड़ दिया था और लौट चला था अपने वही एकाकी जीवन की ओर। उसे

विजय मिली थी किंतु उसका सुख नष्ट होगया था । अब स्कंदगुप्त विजयी किंतु ज्ञात-जर्जर स्कंदगुप्त था ! उसके सब्दे वंधु, सहायक तूर हो गये थे । युद्ध में मर चुके थे । एक देवसेना उसकी सेवा में निरत थी वह भी आज उससे यह कह कर कि “मैं मृत भाई के स्थान पर यथा-शक्ति सेवा करती रही, अब मुझे छुट्टी मिले” लाने को, उसे छोड़ने को तैयार है । स्कंदगुप्त का वह अन्तिम कथन कितना मार्मिक हो गया है जो उसके जीवन की अन्तिम स्थिति, ध्येय, चरित्र पर भी प्रकाश डालता है । “देवी ! यह न कहो । जीवन के शेष दिन, कर्म के अवसाद में यचे हुए हम दुखी लोग, एक-दूसरे का मुँह देख कर काट लेंगे । हमने अंतर की प्रेरणा से शख्स हारा लो निष्ठुरता की थी, वह इस पृथ्वी को स्वर्ग बनाने के लिये । परंतु इस नन्दन की वसंत ध्री इस अमरावती की शची, इस स्वर्ग की जप्ती, तुम चली जाओ—ऐसा मैं किस मुँह से कहूँ ? (कुछ ठहर कर सोचते हुए) और किस बज्र कठोर हृदय में तुम्हें रोकूँ ? “देवसेना ! देवसेना !! तुम जाओ । हत्तमाम्य स्कंदगुप्त, अकेला स्कंद, योह !! ” किंतनी मार्मिक व्यथा का चिंतांकण प्रसाद स्कंद में कर सके हैं वही जान सकते हैं जो इस स्थिति में पड़े हों ।

एक राष्ट्रभक्तों एवं राष्ट्र विरोधियों की श्रेणी भी प्रसाद में हमें हिंगोचर होती है । चन्द्रगुप्त मौर्य चन्द्रगुप्त गुप्त, सिंहरण, वंशुवर्मा, भोम-वर्मा, भर्तिंद आदि की गणना हम देश-भक्तों में राष्ट्रभक्त एवं एवं आमीक, भयक आदि की गणना देश-द्वीहियों में राष्ट्र-द्वीही पात्र कर सकते हैं । चाणक्य, पर्णदत्त, गोर्जिद्वारुप भादेश भक्तों की एक विशेष श्रेणी में रखे जानकरते हैं ।

सिंहरण, वंशुवर्मा एवं भीमवर्मा से हम मालव को ही ग्रहण करलें तो कुछ अनुचित न होगा और इसीलिये राष्ट्रहित-चितना में मालव का एक विशिष्ट स्थान उस धुग में मानना भी अनुचित नहीं है । इनका देश-

हितार्थ स्थाग प्रशंसनीय ही नहीं है आदर्श अनुकरणीय है। स्वमानाप-मान को कुछ न समझ कर देश को सर्वोपरि समझने की भावना भारत के चिरकालीन भविष्य, आदर्श की भी पथ प्रदर्शिका है।

बंधुवर्मा का स्कंदगुप्त के लिये सिंहासन त्याग कर एक साधारण सेनापति हो जाना; युद्ध में भयंकर स्थलों में पढ़कर प्राण देना, भीम वर्मा का निर्विरोध अपने अप्रेज्ज की आज्ञा मानकर उसका अनुकरण करना दोनों वर्मा बंधुओं के अनुपम स्थाग का परिचायक है।

भटाक्क सदृश नीचों का चरित्र भारत सदृश महादेश को अवश्य तंग किया करेगा। उसमें न केवल स्वार्थ का किंतु देश-द्वेष का भी निश्च स्तर था। केवल महत्वाकांच्छा ही न थी किंतु विदेशियों के चरण चूमने की प्राण-घातक नीति की कुटिलता भी थी। अनंत देवी का ही मोह नहीं था किंतु नीचता की पराकाष्ठा भी थी। एक बार जब स्कंद ने उसे बंदीगृह में साता देवकी के घध करने को तत्पर होने के अपराध में जमा कर दिया था तब पुनः उसका स्कंद के विरुद्ध कुचकों का सजन करना, प्रपञ्चबुद्धि की बातों में आ जाना, उसके कलुपित हृदय और चारित्र्यहीनता का ही परिचय देते हैं। ये मानविक कमज़ोरियें नहीं, चरित्र-गठन की विशेषताएँ ही हैं। कुमार के रणज्जेन्न में भी विदेशियों, अत्याचारियों से युद्ध के समय उसका विश्वास देश-द्वेष ही नहीं अच्छम्य अपराध है।

गौड़ेश्वर नरेन्द्रगुप्त के चरित्र की समता भी भटाक्क से ही की जा सकती है जिसने राज्यवर्द्धन से मिला कर पद्यंत्र द्वारा उनका वध कर दिया। उसके द्वारा की गई हत्या कुटिल राजनीति की परिधि के अन्दर भी नहीं थँड पाती है। हाँ कुटिल राजनीति की दृष्टि से देवगुप्त का चरित्र विलासी, कपटी होते हुए भी ध्यान देने योग्य है। उसके चरित्र में

अवश्य राजनीति-कुशलता का अच्छा परिचय दिया गया है। उसका चरित्र व्यक्ति रूप से कुछ दूषित है किंतु वह राजा-गणों की मनोवृत्ति का ही परिचायक है और व्यष्टि अंत में एक बड़ी शक्ति के कारण उसकी पराजय और अवसान हुआ किंतु एक साधारण शक्तियुक्त नृपति के दुद्धि-कौशल का परिचय देवगुप्त में हमें भली भाँति मिल जाता है। चरित्र चित्रण की दृष्टि से उसका चरित्र राज्यश्री के बाद हर्ष के समकक्ष महत्व का उत्तरता है।

‘स्कंदगुप्त’ नाटक में पर्णदत्त का चरित्र बड़ा ही भव्य, भारत-गौरव के रक्षण करनेवाले वृद्ध महानायक के योग्य हुआ है। इस वृद्ध का मगध-प्रेम, देश-प्रेम की उत्कट लगन, देश की दुर्दशा का धौर दुःख, उसके जीवन की महत्ता उसके चारित्र्य की अलौकिकता, उसकी संघटन शक्ति, पग्करण की एक जीवित कहानी है। वृद्ध होते भी अदम्य उत्साह, लगन, देश-हित-चितन है। स्कंद जो प्रायः राज्याधिकारों से उदासीन था, जिसे युद्ध, विश्रह और संघर्ष प्रिय न थे, जो एकाकी जीवन को श्रेष्ठ समझता, वैभव से दूर भागता था किंतु जिसमें महानता, धीरता के चिह्न थे उसे स्वदेश सेवा के लिये प्रेरित करने का श्रेय पर्णदत्त को ही है। नहीं तो शायद स्कंदगुप्त गौतम के सदरा ही कोई अन्य धार्मिक, ग्राणीमात्र-हित चितक महात्मा हुआ होता। स्कंदगुप्त को प्रेरणा, उत्तेजना, समय-समय पर साहस, वृद्ध पर्णदत्त से ही प्राप्त होता रहा और वह शांगे बढ़ता रहा। पर्णदत्त की यौद्धिक धीरता के दिन पीछे चले गये पे किंतु इसलिये इसका चित्रांकण तो करना प्रसाद को अभीष्ट नहीं था किंतु स्कंदगुप्त की धीरता, संघटन शक्ति आदि में से एक बड़े भाग का श्रेय पर्णदत्त को भी मिलता है। यिकट परिस्थिति में वह स्कंद से बहता है, “कुछ चिंता नहीं युवराज, भगवान् सब मंगल करेंगे।” वह एक आदर्श स्वामिभक्त सेवक था जिसने जीवन भर गुप्तों की हृदय से

सेवा की। अंत में भी जब कुभा के रण ज्ञेत्र में सब प्रयत्न भट्टार्क की नीचता, देश-द्वोह, पड़ुयंत्र से असफल हुए वह सब विखरी हुई शक्तियों को भीख माँग-माँग कर एकत्रित, संघटित करता रहा। अपने दुःख के दिनों में भी अदम्य लगन और उत्साह से एक युवक के समान मंगल-मय भविष्य की प्रतीक्षा में देववेना को लिये सब कष्टों का सामना, अत्याचार और अपमान की लांछना फूलों के समान सहता रहा किंतु पथ से विचलित नहीं हुआ। मर नहीं गया। देवकी की समाधि के निकट अपनी आराधना-साधना की कुटी निर्माण कर स्कंद के लिये मार्ग प्रशस्त करने में संलग्न बना रहा। वास्तव में चाणक्य से पर्णदत्त का चरित्र-चित्रण किसी भी प्रकार हीन नहीं हुआ है। चाणक्य की सेवाएँ कथित और प्रकट हैं और पर्णदत्त की मूरक। चाणक्य के समान ही वह "राष्ट्र-नीति" को "दार्शनिकता और कल्पना के लोक" से परे समझता है। वह राजनीतिज्ञ है और इसलिये आदर्श के स्थान पर वास्तविकता को अधिक श्रेय देता है। पर्णदत्त के चरित्र में यही विशेषता दिखाई देती है।

'प्रसाद' के कतिपय अन्य पात्र ऐतिहासिक और काल्पनिक दोनों प्रकार के हैं। इनमें ऐतिहासिक तथ्यों की रक्षा ही नहीं हुई अन्य अमुख पात्र है किंतु आधुनिकता, मानव की स्वाभाविक प्रवृत्तिएँ एवं स्थायित्व भी प्रसाद ले आये हैं। इसमें संदेह नहीं उनके पात्र ऐतिहासिक होते हुए भी आदर्श हैं और इसीलिये अमरता को लिये हुए है किंतु उनका आदर्श यथार्थवाद का सुहोदर ही है। उनकी कल्पना हृतनी अलग-अलग मानव जीवन से नहीं गई है कि उनका आदर्श कोरा आदर्श ही रह जावे अथवा दूर भविष्य में भी कार्यान्वित न हो सके। अतएव यथार्थवादिता के होते हुए भी उनके पात्रों

पर हन वादों से परे होकर विचार करना ही योग्य है। उनके पात्रों में आदर्श, भारतीय संस्कृति और उमस्ती अमरता, भारत की चिर कठिनाहस्रों और समरथाएँ तथा उनके इल भरे हुए हैं और उनके प्रसुख पात्रों को भी जब हम आदर्शवादिता की सीमा में नहीं ला सकते तो असुख अन्य पात्रों का लाना तो शायद प्रसाद के साथ ज्यादी करना है। वास्तव में उनके नाटकों के पात्र आदर्श नहीं वित्तिक ऐतिहासिक और प्रेमचंद के समान हमारे युग के, हमारे भारत के ही हैं जिनमें भूत और वर्तमान का सुन्दर सामजिक और भविष्य का गौरवमय पव-प्रदर्शन है। सांसारिकता भी उनमें है। संसार के सुख-दुःख उनके हैं यद्यपि वे काव्य, दृश्यन या कल्पना को प्रश्रय दे देते हैं। सांसारिक संघर्षों में उत्तराते, बहते और किनारे लगते हैं। सफज्जता या विफज्जता के घूँट पीते हैं। उनके अन्य पात्रों में एक वात और दिसाई देती है, वह यह कि उनके चरित्र में जो मूल भाव रहता है वह तो रहता हो है किंतु उसी की भित्ति पर वे एक क्रम, एक विकास की सृष्टि भी करते जाते हैं जिसका अवसान आदर्श में, भावुकता में, एक उच्चता, मिलन या प्रेम में होता है। प्रायः वे देश-प्रेमी भी होते हैं।

प्रसाद में महाकवि कालिदास का चरित्र उस महाकवि की काव्य महत्त्वा परं गौरव से रहित हो गया है। वह एक साधारण कवि ही है। काव्य गौरव नहीं किंतु सहायता के कारण वह काश्मीर का शासक बना दिया जाता है। उसके द्वारा एक मनुष्य, एक प्रेमी, एक शासक का ही चित्र सामने आता है। उस कवि को तो जैसे हम परिचान ही नहीं पाते हैं। उसका चरित्र मनोनुकूल हमें नहीं दिखता। कुछ विनुत सा हो गया है। इसका कारण यह हो सकता है। कवि की महत्त्वा का ज्ञान हमें उसके जीवन में कम ही होता है। जीवन में वह प्रायः उपेक्षित ही रहता है। उसे उसके महात् रूप में तो हम युगों के पश्चात् ही पहि-

चान पाते हैं। अपने युग में तो वह भी एक साधारण ही व्यक्ति रहता है, जिसका व्यक्तित्व संसार के ऊहापोह में प्रायः दबा ही रह जाता है। इसलिये महाकवि का जो चित्र प्रसाद जी ने हमारे समझ रखा है वह कवि कालिदास का नहीं एक व्यक्ति कालिदास का है जिसे अपने जीवन के इस भाग में महाय और ख्याति प्राप्त नहीं हुई थी। शायद इसलिये उन्होंने कालिदास के स्थान पर मातृगुप्त नाम ही लिखा है। एक घात और समझ पड़ता है कि जिस समय की नाटक की कथा वस्तु है उस समय भारत की अवस्था अत्यंत भयंकर और युद्धावृत्त थी, अतएव कालिदास की अपेक्षा मातृगुप्त एक सैनिक, एक शासक भी ही अधिक आवश्यकता थी। मातृगुप्त के जीवन का समय भी प्रसाद की दृष्टि से से इस समय नव-पौवन काल रहा होगा क्योंकि प्रारंभ से ही वह एक प्रेमी के रूप में सामने आता है। प्रेमिका को न पाने के कारण हतोत्साह है। उसे रुक्मिणी का आश्रय मिल जाता है। वह युद्ध में प्रवृत्त हो जाता है। उसका मातृवादर्श चरित्र वहाँ देखने को मिलता है जब वह अपनी प्रेमिका वेश्या मालिनी के धनापहरण के संबंध में न्याय करता है। काश्मीर का शासक होकर वह वैनव विलास अथवा घमंड में नहीं फूल लाता किंतु अपने को सँभाले रहता है। इन निश्चयपूर्वक देश-सेवा में संलग्न रहता है। उभा युद्ध के बाद काश्मीर का शासक रहना यद्यपि उसे अच्छा नहीं लगता किंतु देश वी अव्यवस्था में वह और करता ही क्या? इसलिये शासक होना ही उसने उचित समझा।

शर्वनाग के भी दो चित्र हमारे सामने आते हैं। एक तो वह जहाँ वह साधारण संना-नायक, निवृद्धि-सा है और रामा-उसकी खी-खी भर्तसना का पात्र होता। भटार्क और प्रपंचलुद्धि के प्रलोभन दिलाने पर महादेवी देवकी के घंघ करने को तप्पर हो जाता है। शायद यह सोचकर कि उसकी खी के कथनानुसार अब वह 'अपदार्थ' से

महत्वपूर्ण वक्तकि होना चाहता है। भद्रिरा ने उसके मस्तिष्क पर ताले ठोंक दिये थे। स्कंदगुप्त के यथा समय वंदीगृह में पहुँच जाने पर वह श्रकांड तांडव नहीं कर पाता जिसके लिये नियुक्त किया गया था। बाद में उसके स्वभाव में परिवर्तन हो जाता है। परतंत्रता और तुच्छ पद के कारण उसके मस्तिष्क का जो विकास रुका पड़ा था वह स्कंदगुप्त या अन्तर्वेद के विषय पति बना दिये जाने पर फूट पड़ा। यदाँ तक कि शर्वनाग की गृद्ध दृष्टि के कारण ही भयक और अनंतदेवी के पद्मयन्त्र सफल नहीं हो पाये। स्वयं भट्टार्क को भी कहना पड़ा कि “शर्वनागने घड़ी सावधानी से बाम लिया।” अब वह सम्राज्य का सच्चा, निस्त्वार्थी सेवक हो गया था। अंत में जो उसकी व रामा की कहण दशा का चित्रण किया गया है वह हूँणों के अत्थाचारों पर्वं भारत की भयंकर दुर्दशा को प्रकट करने के लिये है। इन को ही प्रसाद ने इसका पात्र बताया; इसका यही कारण समझ पड़ता है कि उन्होंने नाटक की लंबी पात्र-सूची में और अधिक पात्र बदाना उचित नहीं समझा और इसीलिये अन्तर्वेद के विषय पति की भी भयंकर दुर्दशा करा डाली। इपसे यह भी प्रहृष्ट होता है कि दशा कितनी भयावह, कस्त्याजनक, व्यापक और बड़ी हुई थी।

‘अजात शत्रु’ नाटक में प्रसुख होना तो अजातशत्रु का चरित्र चाहिये था किंतु विशेष रूप से उस पर प्रकाश नहीं डाला गया है। अजात-शत्रु में स्वभावजन्य क्रूरता नहीं थी। उनकी क्रूरता शिक्षाजन्य, उस युग की दैन है। इस प्रकार की क्रूरता उस युग की एक साधारण बात थी। उस पर माता की शिक्षा का अधिक प्रभाव लक्षित होता है। वह माता के अति निकट रहने पर्वं दर्बंग और महत्वाभिलापिणी अनंत देवी सदृश माता के लालन-पालन के कारण प्रकट होता है। नाटक के प्रारम्भिक भाग में प्रसादजी का उसके चरित्र-चित्रण में यही उद्देश्य

मालूम पड़ता है। दूसरे स्थल पर लहाँ वह काशी की प्रजा के संबंध में जरने विचार प्रकट करता है वे इसी उक्त शिक्षा-प्रभाव और चरित्र-गठन के फल स्वरूप ही हैं जिनमें उसकी तहणाई के विवेक के साथ राजसिक, तामसिक क्रोध, मनोविकार, भावना का चित्रण हुआ है। वहाँ उसका क्रोध वैक्षा ही है। वैक्षा ही ऊपरी ज्ञात होता है जैसा कि प्रायः राजागण दिखाया करते हैं या उनमें प्रकट हो जाया करता है। प्रथम युद्ध के पश्चात् प्रसेनजित् के संबंध में उसके विचार अस्वाभाविकता को प्रश्नय देते हुए ज्ञात होते हैं। अन्य दो स्थलों पर उसके भावों की कोमलता, मानविकता देखने को मिलती है। प्रसाद से उसके व वानिरा के प्रेम संबंधी घटना का विवरण छूटना मुश्किल था। उनके सरस हृदय ने तरुणोचित, साधारण किंतु अनवरत वहनेवाली सरस हार्दिक भावना का चित्रण भी इसी प्रसंग पर कर दिया है। अंतिम प्रसंग अनातशनु के गांभीर्य, उत्तरदायित्व और सुधार का नियोजक दै।

विरुद्धक पितृ-वित्तोधी राजकुमार है उसके चरित्र में जो विरोध, साहसिक्षा, नृशंसता दिखाई देती है वह प्रसेनजित के उसके प्रति किये गये व्यवहार की प्रतिक्रिया के रूप में लचित होती है। प्रसेनजित के हृदय में एक लंबे समय की, उसके दासी-पुत्र होने की गाँठ थी जिसे उसका मस्तिष्क खोलने के लिये तैयार नहीं था। पहिले ही जहाँ प्रसेनजित और विरुद्धक का संभाषण होता है वहीं वह प्रकट हो जाती है। विरुद्धक की साधारण सी साधारण माँग पर वह क्षोधित हो जाता है। विरुद्धक का व्यवहार इस स्थलपर विवेक की सीमा का उल्लंघन करता हुआ नहीं ज्ञात होता। प्रसेनजित का विना पर्याप्त कारण के देश निर्वासन का दृगढ़ देना अविवेक तथा पिता और राजा के अयोग्य व्यवहार का सूचक है इसी की प्रतिक्रिया हम विरुद्धक में पाते हैं। उसकी भावों की कूरता भी हमें देया के परे वहीं दिखाई देती है। वह तो एक त्याज्य

उपेक्षित, धन-प्रभुता-अधिकार हीन राजकुमार था । वह सोचता था “हम आत एक तिरस्कृत युवक मात्र हैं, कहाँ का कोशल और कहाँ का राजकुमार ।” इस निराशा की अवस्था में उसकी माता की हस उत्तेजना ने “बालक ! मानव अपनी इच्छाशक्ति से और पौरुष से ही कुछ होता है । जन्म सिद्ध तो कोई भी अधिकार दूसरों के समर्थन का सहारा चाहता है । विश्व भर में छोटे से बड़ा होना, यही प्रत्यक्ष नियम है । तुम हमकी क्यों अव्वहेजना करते हो ? महत्वाकांक्षा के प्रदीप्त अभिकुरड में कूदने को प्रस्तुत हो जाओ, विरोधी शक्तियों का दमन करने के लिये काल-स्वरूप बनो, साहस के साथ उनका सामना करो, फिर या तो तुम गिरोगे या वे ही भाग जायेंगी ।” उसे पागल बना दिया था । तरुण रक्त जिसमें उत्ताल, प्राण देने का भाव, आकाश को स्पर्श करने, पर्वतों से कूदने, अग्नि में स्वाहा देने की भावनाएँ उत्तराया करती हैं वह क्या करता ? वह ढाकू बन जाता है । विरुद्धक की ध्येय-पूर्णता श्यामा के संबंध से प्रकट होती है । श्यामा उसे हृदय से चाहती है, उसका पूर्ण विश्वास करती और उसके लिये सर्वस्व देने तक को प्रस्तुत रहती है । वह श्यामा जिसने उसे वध किये जाने से बचाया उसी का गला घोट कर न केवल धन की प्राप्ति के लिये विक्रिध्येय पूर्ति के लिये चला जाता है । इतना कठोर ध्रुव ध्येय को धारण करने के लिये वह हो गया था । यहाँ केवल वह कठोर प्रकृति ही नहीं हो जाता किंतु प्रेम और मानविकता से गिर गया है । उसकी यह कूरता नृशंस हृथ्याएँ करते उसमें प्रवेश कर गई होगी । अब जा, अपनी प्रेमिका के प्रति उसका अवहार उसके चरित्र की नीचता प्रकट करना है । आगे वही विरुद्धक महिलका के प्रति कोगल भावोंवाला हो जाता है । प्रसाद जब किसी तरुण का चिन्हण करते हैं तब तत्स्थार्द जनित भाव, उमंगें, रस, सृष्टि मृजन-प्रेरणा की उद्भावना करनेवाली नारी की ओर के आकर्षण

को चित्रित किये विना उनसे रहा नहीं जाता । उनके पात्रों का एक सेट तैयार हो जाता है । उनके नारी और मनुष्य तथा उनके विभिन्न टाइपों के आदर्श, सिद्धांत, अनुभव, व्यक्तियों के अनुसार प्रायः ढले हुए होते हैं । उनमें विभिन्नता की अपेक्षा समानता अधिक रहती है । जहाँ प्रसाद ने तरुण एवं तरुणी को लिया वहाँ उनका नारी-हृदय, यौवनो-ल्लास, भावुकता, सरसता से परिपूर्ण हृदय इस अवस्था के भावों को व्यक्त या चित्रित करने में नहीं चूका है । न केवल उनके नाटकों में समस्त साहित्य में, यह व्यापक रूप में पाई जाती है । अजातशत्रु-वानिरा, चद्रगुप्त-कल्याणी, स्कंदगुप्त-देवसेना, विजया आदि के इस प्रकार के जोड़े तैयार हो जाते हैं । विरुद्धक और महिलका के संवंध में भी विरुद्धक की दृष्टि से इसी प्रकार का प्रेम प्रकट होता है जिसका प्रदर्शन सर्वथा अनावश्यक था ।

उद्यग का अजातशत्रु नाटक में उतना ही प्रयोग हुआ है जितना पद्मावती के लिये आवश्यक था । प्रसेनजित एक क्रोधी, अविवेकी, कुटिल नीति-अवलंबी और अंत में सहिलका के प्रति भावुकता का परिचय देनेवाला नृपति है । कुयोजना हारा अपने विश्वासी, सहायक सेनापति का वध करवाना उसके चरित्र को कुटिलता का परिचायक है, न कि राजनीतिक कौशल का ।

'विशाख' में विशाख नायक और नरदेव प्रतिनायक है । विशाख में सद्यः शिर्चा प्राप्त एक युवक का चित्र है जिसने विद्यालय का जुआ उतार कर अभी ही निरुद्देश जीवन के पथ-द्वारा में प्रवेश किया है । उसके चरित्र को इस अव्यवस्था का चित्र प्रारंभ से ही नाटक-लेखक ने खींच दिया है । वह चन्द्रलेखा व उसके पिता सुश्रवा नाग की सहायता के लिमे निकल जाता है । इसलिये नहीं कि वह अपने जीवन का उद्देश्य

में नारी के संवंध में उन्होंने कल्पना पूर्व भावुकता का ही आवश्यकता-नुसार उपयोग किया है।

प्रसाद ने नारी के दोनों रूपों का चित्रण किया है। एक तो वह जहाँ वह महिमामयी, व्यागशीला, आरम-समर्पण और उरमर्ग-कत्री दयामयी, उदार-चित्त, भावना और कल्पनामयी, नम्र, विनयी, कल्याणी, अपने वंधनों से जकड़ी, उन्हीं में सुखी तथा संतुष्ट, पुरुषाभिगत एवं अनाचार की, शक्ति की शिकार, वात्सल्यमयी, अभाव और लघुतामयी, प्रेमिका, प्रेम और परिणयमयी है। दूसरा वह जहाँ वह उग्र, पहुंच कारिणी, पुरुषोचित अहमन्यता को प्राप्त, चंडिके, भवानी, खड़ग-हस्त-धारिणी, संहारकारिणी, विलासिनी, विलास की सामग्री और इस सामग्री को प्रस्तुत करनेवाली महत्वाभिलापिणी, नारीगत कुटिलता, छल और प्रवचना को लिये हुए, नारी-कौशल की अधिकारिणी, स्वाधिकारों से सुचेत और उनकी चेष्टा में रत, रूप-सौन्दर्य और आकर्षण से परिचित और उसका उपयोग करनेवाली, यौवन को विलास की और शारीरिक सौंदर्य को आकर्षण का साधन समझनेवाली; प्रेम की प्रतिक्रिया के लिये उक्त और विवेकाविवेक को तिलाजुलि दे निर्देश और नियंत्रण रहित हो जानेवाली है।

उसके एक तीसरे रूप की उद्भावना प्रसादकी ने और की है जहाँ वह दो संस्कृतियों के एकीकरण के लिये अपनी भैट उदार-चित्त होकर चढ़ा देती है; जहाँ उसमें स्वदेश-गौरव, स्वदेश कल्याण, स्वाधीनता की प्रेरणा और उसकी रक्षा का विधान हमें दिखाई देता है एवं जहाँ वह पति-पुत्र को भी स्वदेश के लिये तुच्छ समझती और इनकी भरपूरता करती है। मध्यवर्ग की नारी का तो प्रसाद में यह एक साधारण स्वभाव है।

दोनों स्नेहमयी माताएँ और धार्दर्श पर्विएँ हैं किंतु देवकी का चित्रण घुहत कम हुआ है। वह राग-द्वैप रहित एक ज्ञामाशील नारी है। सहनशीलता और ज्ञामा उसमें उच्च कोटि की देवकी और वासवी पाई जाती हैं। अपने वध करनेवालों को भी ज्ञामा करवा देना उसके चरित्र की विशालता प्रकट करता है। ईश्वर की कहण। मैं उसे अटल विश्वास हूँ और इलीलिये कष्टों का सामना करती हुई, सौत के अनाघार को सहरी हुई वह किसी तरह संतोष और धैर्यपूर्वक आपना जीवन काट जाती है। वात्सल्य की मात्रा उसमें हृतनी अधिक है कि स्कंदगुप्त का समाघार न पाकर और युद्धसेव की परिस्थिति से उसका मरण समझ कर वह जीवित न रह सकी। धार्दर्श पर्वती वह अवश्य रही किंतु उसका विशेष चित्रण नहीं हुआ है। वासवी का चित्रण एवं व्यापार अधिक है। विवसार के समान ही वासवी के महत्व का भी चित्रण है। विवसार में जहाँ कोरी दार्शनिकता ही है वहाँ वासवी में सब तरह से विचार करने की ज्ञमता पाई जाती है। वह अपने पति की सच्ची सहगामिनी रही। उसने अपने पत्नीत्व के कर्तव्य का उत्तमता और पूर्णता से पालन किया। पति की हृच्छा उसकी हृच्छा, उनका सुख-दुःख उसका सुख-दुःख रहा है। उसने धार्ति और निराशा में वति को सान्त्वना दी, साहस दिलाया। अभावों में अभावों को लक्षित न होने दिया। विवसार को दान देने में वय असुविधा का अनुभव हुआ तब उसी ने यह सुझाया कि काशी। उसका जी-धन है अतएव उसका राजस्व तो उन्हें ही मिलना चाहिए। वह भी अजातशत्रु, अथवा छलना से विस्ती छुरे भाव के कारण नहीं, केवल पति-देवता को संतुष्ट और प्रसन्न करने के लिये। उसमें विवसार की दार्शनिकता तो नहीं है किंतु उसका ध्यावहारिक रूप अवश्य है। दार्शनिकता उसका सूल स्वभाव नहीं। वह तो विवसार में आत्मसाक कर देने के कारण

उसमें रंगी हुई ज्ञात होती है। इसलिये उसकी दार्शनिकता सृष्टि के वास्तविक रूप का ही विवेचन करती है जिसका वाण्य रूप भी हृदयंगम किया जा सकता है। पति जब दर्शन का विषय छेड़ देता है तब उसे प्रसन्न करने के लिये पति-परायणा भारतीय नारी का यह कर्तव्य हो जाता है, कि वह उसमें रम जावे। पति जब अकारण ही आन्तरिक प्रेरणावश पूछ बैठता है, “रात में ताराओं का प्रभाव विशेष रहने से चंद्र नहीं दिखाई देता और चंद्रमा के तेल बढ़ने से सब तारे फीके पड़ जाते हैं, क्या इसी को शुल्कपक्ष और कृप्यपक्ष कहते हैं? देखि ! कभी तुमने इस पर विचार किया है?” तब इसका उत्तर देना उसे धनिवार्य हो उठता है।

“आर्यपुत्र ! मुझे तो विश्वास है कि नीला परदा इसका रहस्य छिपाये हैं, जितना चाहता है उतना ही प्रकट करता है। कभी निशाकर को छाती पर लेकर खेला करता है, कभी तारों को विवरता और कृष्णा ऊह के साथ कीदा करता है।” पुनः विवसार प्ररन करता है, “और कोमल पत्तियों को, जो अपनी डाली में निरीह लटका करती हैं, प्रभंजन क्यों किम्भोड़ता है?” वासवी को ‘पुनः समाधान करना’ पड़ता है; “उसकी गति है, चह किसी को कहता नहीं है कि तुम मेरे मार्ग में शडो; जो सांहस करता है, उसे हिलना पड़ता है। नाथ ! समय भी इसी तरह चला जा रहा है, उसके लिये पहाड़ और पत्ती वरावर हैं।” उसके चरित्र की निष्कलुपता और द्वै प-हीन वास्तव्य इस घटना से प्रकट होता है जब वह स्वयं अनातशनु बंदी हो गया तो उसे छुड़ाने जाती है एवं अंत में अनातशनु के पुत्र हो जाने पर भावुकता से भरे उद्घार प्रकट करती है।

अनंतदेवी और छुलना कार्य-व्यापार की विभिन्नता होते हुए भी एक ही श्रेणी की छियें हैं। दोनों मदोन्मत्त, महत्वाभिज्ञापिणी राजमाताएँ

हैं। सापन्ध-विद्वेष एवं अपने पुत्रों के प्रति ॥
 अनंतदेवी और छलना ममता उनमें छूट-कूट कर भरी है। किंतु अनंत-
 देवी में लहाँ चारित्र्य की निष्कलंकता का अभाव
 है एवं विलास और अभिमान की मात्रा बहुत बढ़ी हुई है वहाँ छलना
 में केवल सापन्ध-विद्वेष और निज पुत्र-ममता का ही आधिक्य है।
 अनंतदेवी पट्ट्यंत्रकारिणी, उग्र स्वभावा, उन्मत्त नारी है। छलना भोजी
 और देवदत्त के प्रभाव से प्रभावित ही विदित होती है। छलना में लो
 उग्रता पति एवं वासवी के प्रति है वह मूल स्वभावगत अथवा
 विद्वेष-भावना से प्रेरित नहीं मालूम पड़ती। वासवी से लब
 वह स्वयं काशी पर अधिकार प्राप्त करने का संदेश कहती है और,
 वासवी व्यंग्यपूर्वक उससे किसी अनुचर को भेजने को बहती और ताजा
 देती है कि "तब राजमाता को कष्ट करने की बया आवश्यकता थी"
 तब छलना का यह कथन; "किंतु वह मेरी जगह तो नहीं हो सकता था
 और संदेश अच्छी तरह से नहीं कहता। तुम्हारे सुख की प्रत्येक सिकुड़नों
 पर इस प्रकार लध्य नदीं रखता" तो इन शब्दों में केवल विद्वेष की
 पराकाष्ठा है। चारित्र्य की मूल प्रवृत्ति अथवा नीचता नहीं। आगे
 अज्ञातशत्रु के बढ़ी होने पर उसका यह कथन कि "मीठे मुँह की ढाइन!
 अब नेरी वातों से मैं ठण्डी न होने की! थोड़, इतना साहस, इतनी
 कूट चातुरी! आज मैं उसी हृदय को निकाल लूँगी" आदि तो उसमें
 क्रोध की मात्रा ही समझना उचित है, जैसा कि उसके अंत के व्यवहार
 से प्रकट होता है। उसे अपनी भूल मालूम हो गई। बाहर से उसका
 हृदय जो कल्पित हो गया था वह मिट गया।

किंतु अनंत देवी के चरित्र की गणना कल्प हृदय, पट्ट-
 यंत्र कारिणी, नीच-प्रवृत्ति नारियों में ही की जायगी। छलना के हृदय
 में पति-द्वेष नहीं था, उसके प्रति अनादर का या कोई अन्य बुरा भाव

नहीं था । उसमें था तो केवल अपने सुन्न अवात के लिये अतीव सौह-
ममता । छलना की समता केवल के चरित्र से की जा सकती है किंतु अनेक
देवी का पापपूर्ण व्यवहार किसी भी प्रकार पाप रहित नहीं कहा जा
सकता । जो नारी पति को लघ्य कर यह गर्वोक्ति कर सकती है कि “मैं वही
हूँ—जो अश्वमेघ पराक्रम कुमारगुप्त से बाजों को सुगंधित करने के लिये
गन्य चूर्ण ललवाती थी । जिसके एक तीखे कोर से गुप्त साम्राज्य ढांचा-
डोल हो रहा है ।” तब उससे पति के प्रति किसी भी सावारण अच्छे
व्यवहार की आशा करना व्यर्थ है । इसमें उसकी विलासिता, निर्द्वंद्विना,
नियंत्रण-हीनता, अनुचित संवंध आदि पर भी प्रकाश पड़ता है । उसके
इसी चरित्र का समस्त नाटक में विकीर्ण होना दिखाया गया है । प्रारंभ
में ही वह इमारे समझ पति-धातक पद्यंत्र में लिप्त दिखाई देती है । बाद
में सपर्नी, देवी सद्य देवकी को भी मौत के घाट उतार देने का आयो-
करवी है । कुटिल कार्यों के करने की उसमें अपूर्व चमता पाई जाती है ।
उक्त कुकूत्यों के लिये वह सेनापति भटाक को—शायद युवक भटाक को—
चासना पुर्ति और पद के प्रजोभन-जाल में फँसा अपना सहायक
बना लेती है । भटाक के अस्थिर और निवेद चरित्र का वह समुचित लाभ
उठाती है । पद्यंत्रों में वह असफल होती है साम्राज्य और स्वदेश-सेवा
के भाव को भी तिजांडुजि दे, रक्त के रूपा भाव की कृतज्ञता को भुला
कर भी, विदेशियों की सहायता कर पापपूर्ण चरित्र का परिचय देनी है ।

अनेकदेवी और छलना के साथ ही हम मनसा पर भी विचार कर
सकते हैं । मनसा भी टेग्र स्वभावों रमणीयी जिसमें जांतीयता का इतना
जोश, स्वाभिमान या कि वह विना विवेकाविवेक, के परि-
मनसा स्थितियों का विचार न कर, विना वल्लावल को तोले विचारों
की निम्नस्थिति में घटनाओं को देखकर नाग जाति को इतना
चर्चेजित कर देती है कि उसके प्रायः सर्वनाश का व्याकारण बनती है ।

प्रारम्भ में यह अनुभव नहीं कर पाती कि उसके समय में वह समय आ गया था जब कि नाग जाति और आर्य जाति का एक होना अनिवार्य था । इसका ज्ञान उसे नाग जाति के प्रायः सर्वनाश पर होता है । वे दो जातिएँ अब दो नहीं रह सकती थीं ।

मनसा के विरुद्ध सरमा, कार्णेलिया और मणिमाला के चरित्र आते हैं जिन्होंने परंपरागत् राष्ट्रीय विद्वेषों की अग्नि स्वयं को संस्कृतियों के सम्मिलन के हेतु रथाग कर सदा के लिये शांत कर संस्कृति-संयोजिका दी । दोनों जातियों को मिलाने के लिये उनके रथाग पात्राणं प्रशंसनीय हैं । सरमा (आर्य-यादवी) ने वासुकि नाग से परिणय कर स्वजाति अपमान सहा । अपमान सहकर भी अपने उद्देश्य की पूर्ति में लग गई । नाग जाति का आर्यों के विरोध को दंखकर उसे दुख होवा । उसमें छुव्वता पैदा होती किंनु इस गरल को वह पीती रही । जब न पी सकी तो दोनों ओर से विजग हो दोनों जातियों के कल्याण में तटस्थ रहकर निरत हो गई । इसी प्रकार मणिमाला में यौवन-सुलभ प्रेम जनमेजय के लिये जाग्रत हुआ जो आगे जाकर विवाह सूत्र द्वारा नाग और आर्य जातियों की खाइयों को पुरने और उन्हें एकता का पाठ पढ़ाने के काम आया ॥

देवसेना, मालविका और कोमा उन उच्च आत्म-त्यागिनी युवतियों में से हैं जो प्रेम के लिये महान् से महान् उत्सर्ग करने को प्रस्तुत रहती हैं । अपने प्रेमी का सुख-दुख, कल्याण, अपनी आत्म-त्यागिनी सुख-दुःख, कल्याण समझती हैं । निस्वार्थ प्रेम तरुणिणँ जिनमें इस उच्च कोटि का है कि उसकी समता नहीं की जां सकती । ये चरित्र शार्दर्श हैं जो यथार्थता से दूर नहीं । शकराज के लिये कोमा की त्यागपूर्ण भावना और जलन अनुकरणीय है ।

मालविका का प्रेम के लिये, जानते-बुझते हैं, आत्म-विजिदान, उस प्रेम के लिये जिसका एक कण भी उसे देखने को नहीं मिला था, जो भविष्य में भी प्राप्त होना असंभव था, अनुपम है। उसमें वह प्रेम था जो प्रतिदान नहीं चाहता था। केवल जलन, साधना, त्याग और उत्सर्ग ही जिसके शर्गार थे। हन्दी के समान देवसेना का त्याग भी अनुपम, आदर्श और उच्च है। वह न केवल वीर कन्या थी किंतु उसमें उस वीरता का संचरण भी था जो कि शत्रियत्व का, वीरत्व का गौरव होती है। उसकी मूल प्रवृत्ति गायन की ओर थी किंतु आवश्यकता पड़ने पर युद्ध ज्ञेय में जाने के लिये भी प्रस्तुत हो जाती है। भीपण परिस्थितियों में भी वह घबड़ाती नहीं, विचलित नहीं होती, साइर सूखी अपने लघ्य की ओर बढ़ती जाती है। यह अवश्य है कि ग्रसाद जी ने गायन विद्या का उसमें हृतना अधिक प्रेम प्रकट किया है कि वह मौके वेमीके भी गाया करती है जो कतिपय नव सिद्धुएँ गायन सीखने वालों में पाया जाता है। किंतु इन सबसे परे उसकी महत्ता और त्यागशीलता तो आगे प्रकट होती है। वह जानती है कि विजया भी उसके प्रेमी स्कंद को चाहती है किंतु उसमें ईर्ष्यों का एक भी कण नहीं। आभास भी नहीं। वह जानती है कि स्कंद के कोने में विजया ने भी अपना स्थान बना लिया है किंतु उसे इसका रंज नहीं दुःख नहीं। वह तो सम और एक भाव से अपने इष्ट देवता की आराधना करती रहती है। ये बातें जैसे उसके समझ तुच्छ हैं। उनका कोई मूल्य नहीं। उसका प्रेम अटल, उसकी हृच्छापूर्ण वासना रहित, उसके कार्य त्याग पूर्ण, उसकी प्रेम प्रणाली सहदयता, उत्सर्ग पूर्ण। उसका आत्मोत्सर्ग आदर्श है। त्याग का तो उसने उच्चतम आदर्श उपस्थित किया है। विजया उसे ईर्ष्यावश मरवाने का प्रयत्न करती है किंतु विजया के प्रति भी उसमें

सद्भाव धना रहता है। उसके हस चरित्र की भूरि-भूरि प्रशंसा करनी पड़ती है। वह चमाशील भी है। इन्द्रियों पर उसका पूरा-पूरा अधिकार है। उसका चरित्र पवित्र और आस्मिक सौंदर्य का ज्वलंत उदाहरण है। स्कंदगुप्त तो एक बार उसे देखकर विचलित हो उठता है किंतु उसमें चासना का लेश नहीं। वह विचलित नहीं होती, साहस और धैर्य पूर्वक अपने लक्ष्य की ओर धृती ही जाती है। प्रेम के लिये स्कंदगुप्त को वह पथ से विपथ नहीं करना चाहती। स्कंदगुप्त का कुभा के रण के बाद जब पता न लगा और साधारणतः वह प्रचलितसा हो गया कि उसे बीर गति मिल गई होगी तथा भी देवसेना अटल अद्वा और अनुराग से पर्णदत्त के संरक्षण में देवकी की समाधि के निकट अपने आराध्य की पूजा में लग गई। वैधव्य जीवन के समान अपना जीवन द्वाण-द्वाण गीत गाना कर, युद्धों के मध्य में उनकी कलुपित पापशूर्ण वाक्यावलियों को सुन-सुन कर गलझने लगी। अंत में उसका उत्सर्ग, आत्म त्याग धरम सीमा तक पहुँच जाता है। स्कंदगुप्त पर्णदत्त की कुटीर के निष्ठ भूला भटका आ जाता है। पुनः देवसेना से भैंद हो जाती है। विजया भी उसे प्रलोभन दे चुकती है। स्कंद देवसेना के साथ एकाकी जीवन व्यतीत करने की आकांक्षा प्रकट करता है। किंतु धन्य देवसेना निसने सच्चे आत्म-प्रेम के लिये, राष्ट्र के लिये अपनी आत्मा को दबाकर स्कंद को विवाह के बंधनों में बाँधना उचित नहीं समझा। प्रेम को वह आग की तरह दवाये थी। उसके शांत होने का सुश्रवसर उसे मिल रहा था। किंतु उसके त्याग ने आत्मोत्सर्ग ने स्पष्ट स्कंदगुप्त से कह दिया "आपको अकर्मण बनाने के लिये देवसेना न लिये। सम्राट ज्ञाना हो। इस हृदय में.....आह! कहना ही पड़ी; स्कंदगुप्त को छोड़ कर न तो कोई आया, और न वह आयगा, अभिमानी भक्त के समान निष्काम होकर, मुझे उसी की उपासना करने दीजिये; उसे कामना के

भँवर में फँसाकर कलुपित न कीजिये । नाथ में आपकी ही है, मैंने अपने को दे दिया है, अब उसके बदले में कुछ लिया नहीं चाहती ।”

कमला और रामा स्वदेशानुरागिणी और स्वामिभक्त नारियें हैं । कमला सेनापति भटाके की माता है और उसे उसकी स्वदेश विरोधी

कुकृतियों से दुःख होता है । भटाके को वह स्वदेश

रवदेशानुरागिणी के लिये उत्तेजित करती है । उसकी साम्राज्य

नारियें विरोधी, स्वामि-भक्ति हीन प्रवृत्ति के लिये उसे लांछना देती है । उसका कुछ प्रभाव भी पड़ता है

किंतु भटाके की नीच प्रवृत्ति फिर उसे अपनी ओर ही खींच ले जाती है । रामाँ का व्यवहार उसके पति के व्रति प्रारम्भ में स्वरूपनेयाला है

और उसका पति पर शाधिपत्य पूर्व उसे तुच्छ समझ कर कलह-प्रिय होना सिद्ध करता है किंतु उसकी स्वामि-भक्ति अवश्य प्रशंसनीय है ।

प्रसाद के ग्रायः सब सदूपात्र स्वदेश-सेवा की ओर ही अग्रसर होते दिखाई देते हैं । रामा भी स्वामि-भक्ति के कारण देवकी की सेवा ग्रायों

की वलि देकर भी करना चाहती है । उसके पति पर उसकी कृति के कारण उसे दुःख है और वह जाकर देवकी को सूचना दे देती है कि

पठ्यंत्र में तिस उसका पति उनका वध करना चाहता है सदूचृति परायण पति पर उसका पर्यास प्रभाव है और देवकी-वधोद्यत घटना के पश्चात् वह

उसे सन्मानं पर ले आने में पूर्ण सफल होती है । अन्त में उसे नाटक-लेखक ने पुत्र-शोकाकुल भी दिखा दिया है ।

जयमाला में यद्यपि स्वदेश-भक्ति, महान् त्याग के व्रति सन्नावना, एक साधारण नारी के समान पद सम्मान और राज्य का लोभ है किंतु उसके दूसी चरित्र में व्याचाहारिकता का परिचय मिलता है । उसकी उत्तभावना स्वार्थ प्रेरित नहीं कही जा सकती । पति के समझाने पर मान जाना उसकी बुद्धि और पति-परायणता का सूचक है । पति-सेवा में वह

सदा संलग्न रही और उससे दूर रहना उसे रुचिकर प्रतीत नहीं हुआ । आपत्ति में उसने धैर्य से काम लिया । भीमवर्मा के पराजित होने पर इवं युद्ध के लिये उद्यत हो गई ।

प्रसाद के सुख पात्रों में चन्द्रलेखा का चरित्र ही पृथक् अवलोकनीय है । उसका चरित्र सौंदर्य-शालिनी डन नारियों का चरित्र है जिन्हें रूप के लिये कष्ट उठाना पड़ता है । राजा या जर्मांदार जिन्हें अपनाना चाहते हैं और जिनके रूप के लिये खून-खराबी हो जाया फरती है । चन्द्रलेखा भी इसी रूप सौंदर्य के कारण राजा नरदेव की आँखों में गड़ गई । इस कारण उस पवित्रायण का गार्हस्थ्य-जीवन भी एक समय के लिये दुःखमय हो गया ।

प्रसाद के नारी पात्रों में एक भाग वासनामयी, लध्यहीन, निर्वल-चरित्र ऐसी उद्दिष्टियों का भी है जो या तो समाज की रुद्धियों के

कारण अथवा अपनी विवशताओं एवं निम्न स्थिति के वासनामयी लक्ष्य कारण रूप-सौंदर्य के जालच में पुरुष-द्वारा विवाही हीन दुर्दल नारियों गई, उनकी विवशताओं ने उनकी व्यथाओं की सहित

की । उनमें तस्याई की जो उमर्गे थीं, जो रस प्रवाहित हो रहा था उनके चारित्र्य की दृष्टि के अभाव में (जैसा प्रायः इस अवस्था में रहा ही करता है) लाभ उठाया और फिर भक्षी की तरह फेंकने का प्रयत्न किया गया । उनका प्रेमी हृदय किसी पुरुष पर जिस पर उनकी सहानुभूति हो न्योद्यावर होने के लिये तैयार हो गया किंतु नियति ने उनके के लिये कुछ अन्य घटनाओं की ही सहित कर दीं और वे कहीं जाती हुई वहीं फिका गईं और फिर अन्त में उन्हें भग्न मनोरथ हो अपनी पुरानी स्थिति में ही आजाना पड़ा । उनका सुख उद्दिष्ट, उनका उल्लास प्रवंचना पूर्ण, उनका विलास पुरुषाधीन, उनकी

आकांच्छाएँ पराजित, उनके भाव दबे हुए, उनकी भावनाएँ कुचली हुई रहीं। कूलों के समान खिलीं और पंखुमियों के समान विष्वरीं, अलग हो गईं। उनकी इस वेदना का कारण उनकी हुंयंलताओं से अधिक उनकी निम्न स्थिति रही। विजया सुवामिनी, सरमा, दामिनी, मांगंवी में हम यही पाते हैं।

कुवेर कन्या विजया के पास धन, रूप, आकर्षण सब ही था। नारी का हृदय और छलना भी थी किंतु धन की महत्ता ने उसे पुरुष-हृदय को, संसार को नहीं देखने दिया। वह स्वार्थपरता, वासना हृष्टा से ऊपर न उठ सकी। लिस समय विदेशी शवुओं से देश की रक्षा करने के लिए विजया से एक नन्हा आग्रह किया गया। उसने लक्ष्मी-मुन्त्री के मुँह से ही उत्तर दिया। लक्ष्मी के मस्तिष्क ने ही धन का मोह उसमें सज्जन कर कहलावाया। उसी बनी हुई कुटिल उक्ति में उसने देश की वीरता को चुनौती देकर कहा, “किंतु इस प्रकार अर्धे देवर विजय खरीदना तो देश की वीरता के प्रतिकूल है।” इसी भावना ने, वणिक-वृत्ति की प्रवृत्ति ने, उसे नारी के वास्तविक रूप में प्रकट नहीं होने दिया। इसी प्रवृत्ति ने उसे अपने हित् और अहित्, शक्ति-मित्र में भेद न समझने दिया। उसकी अकारण हृष्टा ने अपनी हित-चित्रक, प्रिय, उसके लिये स्थाग करनेवाली सखी देवसेना के प्रति घोर कुकूल्य करवाने के लिये उसे प्रेरित किया। उसने अपने स्थार्थी प्रेम के लिये ‘देवसेना’ को चला देना भी स्वीकार कर लिया। नारी की हृष्टा की वह पराकाण्डा है। यहाँ लेखक उसे समय पर अलग करवाकर नारी संबंधी एक मनोवैज्ञानिक तथ्य का दिग्दर्शन भी करा देता है। विजया में प्रेम के स्थान पर वासना, स्थाग के स्थान पर घोर स्वार्थपरता, प्रेम के स्थान पर प्रेम की प्रवर्जना, हृदय के स्थान पर अस्तिकिया है। प्रेमी के हित-चित्रन के स्थान पर उसके प्रति चिन्द्रोह, सफलता प्राप्त न होने पर विरथ-गमन

है। प्रेम की प्रतिक्रियावश वह अपरिचित भटार्क पर सुख हो जाती, उसे यिना पर्याप्त करण के बरण कर लेती है। प्रेम-साधन विफल होने पर कुसुमपुर में पुरगुप्त के विनोद की, क्रीड़ा की सामग्री बनना पसंद कर लेती है। यहाँ भी जब विफलता से टकराती है, भटार्क ले विछली जाती है तब अनन्त देवी पर कृपित हो, सर्विणी-सी फुफकार कर पुनः धन रत्न के आधार पर त्यागी-वीर स्कंद को, उसके हृदय को, प्रेम को खरीदना चाहती है। प्रेम के मार्ग को गलत समझने के कारण अन्त में उसे निराश होकर आत्म-हत्या तक कर लेना पड़ती है।

सुवासिनी को भी अपनी विवशता, असहायावस्था के कारण चाणक्य से प्रेम होते हुए भी राज्यस से प्रेम-बन्धन स्थापित करने को वाध्य होना पड़ा। नंद के क्रीड़ा-कौतुक और उसकी वासनापूर्ति में सहायक होना पड़ा। परिस्थितियों ने उसे वौद्ध-भिजुणी तक यनने के लिये वाध्य किया किंतु उसके तरुणी हृदय ने उसे वहाँ भी नहीं रहने दिया और अन्त में उत्तराती-वहती हुई उसे राज्यस में ही अपने को आत्मसात् करना पड़ा। सुवासिनी के समान ही सौंदर्य और यौवनपूर्ण नारी सुरमा को भी विछलानों से सामना करना पड़ा। उसकी अवृत्त, अदम्य वासना की अस्थिरता ने उसे खूब ही चक्कर डिलाये। उसका आग्रह था कि शांतिदेव ही उसके वासनामय हृदय पर अधिकार करले। वह एकाकी नारी चाहती थी कि शांतिदेव की हो रहे। किंतु पुरुष, शांतिदेव तो राज्यश्री के सौंदर्य-जाल से निकल ही नहीं पा रहा था। वह सोचता था राज्यश्री सुके मिल जावे तो सरमा से किनाराकशी कर लूँ। सरमा क्या करती? अपनी वासनाओं को रोकना उसने सीखा नहीं था। वे उसके चश की नहीं थीं। एक अतिथि के समान देवगुप्त इसी समय उसे मिल गया। उसने उसे आकर्पित करना चाहा। अनचाहे वह उसी ओर सुड़ गई। पर जब सुखाधिक्य का आनंद ले रही थी, उसकी स्थिरता पर विचार

थी वह नष्ट हो गया । राज्यश्री की ओर से निराश शांतिदेव ने पुनः उसका आद्वान किया और ठोकरें चाती हुई वह उसी के अच्छे और दुरे में, हत्या में सहगामिनी हो गई ।

दामिनी अद्यत्य चासना-विकार युक्त वृद्ध पत्नी है । वेद से विद्वान्, कुलपति ने तरुणार्द्ध की, यौवन की अवस्था धारा दामिनी को विवाह द्वारा रोकने का उपक्रम किया था । वह फूट-फूट कर निकलना चाहती थी । उनके निर्वल हाथ, ज्ञान-गरिमा और गुह्यशानी के पद से रोकना चाहते थे । वह कैसे रुक सकती थी । दामिनी की उपर्युक्त का 'जनमेजय' में उपयोग कर प्रसादजी का उद्देश्य वृद्ध-विशेष की विडंबना दिखाने का है । इन्हीं के सद्श-चरित्र प्रो० दीनानाथ और किरणमयी में मिलते हैं । दामिनी का चरित्र विभार-ग्रस्त होने हुए भी उज्ज्वल है । उसकी फिसलन स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक है । इसका चरित्र प्रसादजी ने वृद्ध-विवाह के दुष्परिणाम को दिखला कर भी, निष्कर्जन्क रखा है जोकि उनकी कलात्मक बुद्धि की प्रत्यरूपता का घोतक है ।

इन्हीं की श्रेणी में मागंधी का चरित्र भी आता है । रूप-सौंदर्य, यौवन के आधार पर इस विकारग्रस्त, चासनापूर्ण, निम्न-स्थितिवाली नारी ने महात्मा गौतम को आकर्षित करना चाहा किन्तु इस चेष्टा में विफल होकर अपने उक्त गुणों के कारण ही वह राजरानी बनी और पुनः इस पद से पतित हो बेश्या बनी । विरुद्ध को हृदय और आत्मा सौप कर भी जब वह उसके द्वारा छली गई तब पुनः निम्न-स्थिति में आकर महात्मा गौतम की ही अनुयायिनी बन गई । मागंधी और इस श्रेणी का सब नारियों के चित्रण का सार मागंधी के इस निम्न कथन में गर्भित है जो परिस्थितियों एवं घटनाओं की भिन्नता के होते हुए भी एकसा ही है । "वाह री नियति ! कैसे-कैसे दृश्य देखने में आये—कभी बैलों को चारा देते-हैं वाध नहीं थकते थे, कभी अपने हाथ से जल का

पात्र तक उठा कर पीने से संकोच होता था, कभी शील का बोझ एक पैर भी महल के बाहर चलने में रोकता था और कभी निर्लज्ज गणिका का शामोद मनोनीन हुआ !…… वास्तविक रूप के परिवर्तन की इच्छा सुके इतनी विप्रमता में ले आई ! अपनी परिस्थिति को संयत न रख कर व्यर्थ महत्व का ढोंग मेरे हृदय ने किया, काल्पनिक सुख-लिप्सा ही में पड़ी, उसी का यह परिणाम है । खी-सुलभ एक स्निग्धता, सरलता की मात्रा कम हो जाने से लीवन में कैसे बनावटी भाव आ गये ।”

ले खक द्वारा प्रसाद पर लिखित पूर्ण सामग्री के दृष्टि से पृथक प्रकाशिन “नारी-हृदय की अभिव्यक्ति” में “धुवस्त्रामिनी” नामक निवंध पड़ना आवश्यक है ।

हिंदी नाट्य-चिंतन

(प्रथम-भाग)

में

१. नाट्यकला एवं साहित्य की रूपरेखाएँ
तथा

२. भारतेंदु बाबू, लक्ष्मीनारायण मिश्र एवं सेठ
गोविंददास के नाटकों का पूर्ण विस्तृत
विवेचन है।

मूल्य १॥=)